

## वैदिक परिवार व्यवस्था में माता का स्थान

मीनाक्षि खनाल, शोधच्छात्रा, नई दिल्ली

वैदिक समय से समाज की सुसंगठित एवं मूल इकाई परिवार है। मानव ने अपने सामाजिक जीवन को पूर्णता एवं स्थायित्व प्रदान करने के लिए जिस संस्था का नियोजन किया उनमें परिवार का स्थान सर्वोपरि है। वैदिक समय में इस इकाई को कुल कुटुम्ब के रूप में जाना जाता था। कालक्रम में यह स्थान परिवार शब्द ने ले लिया। अतः वैदिक परिवार वस्तुतः परिवार के वैदिक स्वरूप को दर्शाता है। परिवार की महत्ता वैदिक काल में इतनी अधिक थी कि इसका अनुमान करते हुए आचार्य शिक्षा समाप्ति के बाद स्नातकों को सन्तान रूपी तन्तु का विच्छेद मत करो ऐसा कह कर उपदेश देते थे।<sup>1</sup> क्योंकि यह परिवार व्यवस्था के माध्यम से ही सम्भव था। अतः इस उपदेश के माध्यम से गुरु समाज हेतु योग्य बनकर निकल रहें शिष्यों को परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के लिए कहता था। परिवार वैदिक काल से ही सामाजिक जीवन की आधारशिला रही है, जिसका समाज के विकास एवं उत्थान में बड़ा योगदान रहा है। हिन्दू दर्शन में मानव का पूर्णत्व विवाह संस्कार के उपरान्त सन्तानोत्पत्ति के बाद ही स्वीकार्य होता है। इसीलिए ऋग्वेद में ऋषि कहते हैं- “प्रजाभिरग्नेऽमृतत्वम्श्याम”<sup>2</sup>। अर्थात् मैं प्रजा द्वारा अमृतत्व का उपभोग करूँ।

भारत में प्रारम्भिक काल से ही संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित रही है। संयुक्त परिवार में साधारणतया तीन से चार पीढ़ी के लोग एक साथ रहते हैं<sup>3</sup>। अतः एक घर में रहने वाले सदस्यों की संख्या में अधिकता होती है। परन्तु सभी सदस्यों के कर्तव्य एवं अधिकार परस्पर विभाजित होते हैं। अतः यह सुचारु रूप से चला आ रहा है। सभी सदस्य अपना धर्म समझकर इनका पालन करते हैं।

परिवार विवाह के पश्चात् सन्तानोत्पत्ति से आरम्भ होता है। अतः पति-पत्नी के सम्बन्ध के बाद पिता-माता के रूप में नया दायित्व आता है। भारतीय सनातन परम्परा में परिवार में होने वाले स्त्री के अनेक रूपों में माता का स्थान सबसे अधिक आदरणीय और महत्वपूर्ण रहा है। यद्यपि विवाह एवं सामाजिक मानवीय पद्धति के अन्तर्गत पिता-माता दोनों का सहयोग आवश्यक रहता है परन्तु एक शिशु को नौ मास तक गर्भ में रखने, उसको जन्म देने तथा उसका पालन-पोषण करने के कारण माता का सन्तान से सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ होता है। इसीलिए सन्तान के मन में उसके त्याग और वात्सल्य से उद्भूत घनिष्ठता होती है। पालन-पोषण के साथ साथ व्यक्ति के चरित्र निर्माण में भी माता का योगदान अधिक रहता है। माता को प्रथम गुरु कहा गया है। बाल्यावस्था से सम्पर्क में रहने के कारण और उसके चरित्र और उपदेश का शिशु पर अधिक प्रभाव के कारण उसे श्रेष्ठ गुरु भी कहा गया है।

### मातृत्व की अवधारणा

वेद एवं वैदिक साहित्य में मातृत्व की धारणा को लेकर कई प्रसंग प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में माता को पृथ्वी लोक कहकर पूजा गया है<sup>4</sup>। आकाश और पृथिवी को साथ में संसार के माता पिता के रूप में बताया गया है<sup>5</sup>। पृथिवी को वनस्पतियों की माता कहा गया है। आकाश और पृथिवी देवों के भी माता-पिता है; क्योंकि दोनों भूतों का रक्षण, विश्व का कल्याण और सत्य का धारण करते हैं। जब परिवार व्यवस्था विकसित होने लगी तब किसी समूह के प्रधान को पिता बताया जाने लगा<sup>6</sup>। उसी आधार पर सरस्वती को नदियों की माता कहा गया। कुछ स्थान पर सन्तान द्वारा माता पिता की उत्पत्ति का वर्णन आया है।<sup>7</sup>

वैदिक युग में वंशपरम्परा पितृत्व की अपेक्षा मातृत्व के आधार पर बनती थी। पुत्रों को उनकी माताओं के नाम से भी पुकारा जाता था<sup>8</sup>। दिति और अदिति का उदाहरण इस सन्दर्भ में पर्याप्त होगा।<sup>9</sup> क्योंकि दैत्यवंश दिति के पुत्रों का है और दैववंश अदिति के पुत्रों का आदित्य के रूप में है।

वेद में 'पितरौ' कह कर माता-पिता को समान आदर व सम्मान दिया गया है। वेदयुगीन नारी मातृ-रूप में देवी के समान पूजी जाती थी। नारी मनुष्य की जननी है। वह मानव की धात्री भी है। अतः वह अतीव श्रद्धा की पात्री है। मातृत्व को नारी के लिए वरदान माना जाता था – 'मानोभ्रेऽमतये मा वीर ताये रीरथः।'<sup>10</sup> साथ ही बन्ध्यापन नारी के लिए घोर अभिशाप के रूप में देखा जाता था। क्योंकि एक स्थान पर एक क्रुद्ध ऋषि नारी को बन्ध्या रहने का शाप देते हैं।<sup>11</sup> मातृत्व पिता-माता को पूर्ण बनाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में अपुत्रा स्त्री को शुभकर्मों एवं धार्मिक संस्कारों से दूर रखा गया है – 'या वाऽपुत्रा पत्नी सा निर्ऋति गृहीता, रजस्वला च्या नारीश्वित्रिका पुत्रिका च्या।'<sup>12</sup> परन्तु यास्काचार्य उल्लेख करते हैं – 'गर्ता रोहणीव धनलाभाय दक्षिणांगी। गर्त्त सभास्थाणुः। तं तत्रऽया पुत्रायाऽपतिका साऽऽरोहति। तां तत्रा क्षेराहनन्ति सा रिक्थं लभते।'<sup>13</sup> अर्थात् अपुत्रा स्त्री सभा-स्थान में जाती थी, मंच पर बैठती थी और उत्तराधिकार की सम्पत्ति प्राप्त करती थी। यहाँ अपुत्रा स्त्री को भी सम्मान की अधिकारिणी माना गया है।

माता के रूप में जननी का स्थान सदैव वैदिक समाज में आदृत रहा है।<sup>14</sup> वैदिक वाङ्मय में सन्तान प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गई है – 'आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।'<sup>15</sup> नारियों द्वारा अधिकाधिक पुत्रों की कामना की गयी है – 'वीर सुर्देवकामा श्योना शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे'<sup>16</sup>। विवाह उपरान्त मातृत्व की पूर्णता हेतु गर्भाधान संस्कार, पुंसवन संस्कार किए जाते थे। उन में वीर, गुणी सन्तानोत्पत्ति हेतु मन्त्रपाठ किया जाता था – 'आसे योनिं गर्भं एतु पुमान्वान इवेषुधिम् आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः'<sup>17</sup>।

एवं दृष्ट है कि वैदिककालीन समाज में मातृत्व का अधिक महत्व था तथा माता सम्माननीय थी।

### **परिवार में माता का स्थान**

नारी के चार रूप हैं- कन्या, पत्नी, माता तथा सामान्य।<sup>18</sup> वैदिक मन्त्रों में यद्यपि पुत्र शब्द का उल्लेख हुआ है परन्तु यह पुत्र-पुत्री दोनों के लिए है। कन्या जन्म के बाद सम संस्कार किये जाते थे। कन्या के लिए अच्छी शिक्षा की व्यवस्था थी। शिक्षा प्राप्ति के बाद कन्या को अपने पति चुनने का पूर्ण अधिकार था। पत्नीत्व का लक्ष्य मातृत्व की प्राप्ति है। अतः माता के रूप में समाज में नारी का स्थान सर्वोपरि है। परिवार में माता के प्रति अतिशय आदर की भावना दिखाई पड़ती है।

अथर्ववेद में पुत्र को सदैव माता के मनोनुकूल रहने की सलाह दी गयी है – 'माता भवतु सम्मनाः'<sup>19</sup>। माता का महत्व और गौरव इस बात से भी प्रकट होता है कि वह व्यवहार में सर्वदा पिता शब्द से पहले व्यवहृत होती रही है – 'मातरापितरानूचिदिष्टौ'<sup>20</sup>। भरण पोषण करने के कारण माता से बढ़ कर कोई नहीं होता है – 'मातेव यद्भरेसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च'<sup>21</sup>। भूमि की उपमा माता से देकर माता की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है। 'मातृदेवो भव'<sup>22</sup> से माता को देवता का स्थान देकर आचार्य ब्रह्मचारी को शिक्षा समाप्ति के अवसर पर उपदेश देता था। समाज में उसकी देवतुल्य श्रेष्ठता रही है।

### **माता के प्रति कर्तव्य**

माता को परिवार का प्रिय एवं घनिष्ठ सम्बन्धी माना गया है।<sup>23</sup> धर्मसूत्रों में माता सम्बन्धी अनेक चित्रण किए गये हैं। गौतमधर्मसूत्र में उल्लेख है – 'आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणां मातेत्येकः'<sup>24</sup> क्योंकि सन्तान प्रारम्भिक शिक्षा माता से ही प्राप्त करता है।

वसिष्ठ के अनुसार माता उपाध्याय, आचार्य तथा पिता से भी अधिक श्रेष्ठ होती है – 'उपाध्यायाद्दशाचार्या आचार्याणां शतं पिता। पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते॥'<sup>25</sup> माता का आश्रय ही सभी जीवधारियों के लिए जीवित रहने का आधार है।<sup>26</sup> इसलिए माता की सेवा-शुश्रूषा करना सन्तान का परम कर्तव्य है। विष्णु के अनुसार इस संसार में मनुष्य के लिए तीन व्यक्ति सदा श्रेष्ठ हैं – माता, पिता और आचार्य अतः उन की सदैव सेवा करनी चाहिए। उन के आज्ञा के अनुरूप कार्य करना चाहिए। उनके लिए प्रिय और हितकारी कार्यों का ही निर्वहन सदा करना चाहिए। बिना आज्ञा के कुछ भी करना अनुचित है।<sup>27</sup> क्योंकि माता तीनों वेदों, तीनों लोकों, तीनों देवों

और तीनों अग्निओं के समान है।<sup>28</sup> विष्णु और कहते हैं कि पिता गार्हपत्याग्नि, माता दक्षिणाग्नि और आचार्य आहवनीयाग्नि हैं। जो व्यक्ति इन तीनों का आदर करता है उसे अपने सारे कर्मफल प्राप्त होते हैं परन्तु जो इनका सम्मान नहीं करते उनके कर्मफल शेष हो जाते हैं। विष्णु फिर कहते हैं कि माता का आदर करने से इहलोक की प्राप्ति, पिता का आदर देवलोक की प्राप्ति तथा गुरु के आदर से व्यक्ति को ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है।<sup>29</sup>

इस प्रकार परिवार में माता का स्थान गौरव पूर्ण था और माता की आज्ञा मानना पुत्रों का कर्तव्य होता था।

### **माता का अधिकार**

परिवार में माता को अनेक अधिकार भी प्राप्त हैं। सभी धर्मकारों ने माता का भरण पोषण पुत्रों का कर्तव्य कहा है। देव्यापराधक्षमापनस्तोत्र में कहा गया है “कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति” । गौतम भी अपने धर्मसूत्र में कहते हैं कि पतित होने पर भी माता के साथ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिये।<sup>30</sup> आपस्तम्ब के अनुसार माता की सेवा पतित होने पर भी करनी चाहिए क्योंकि वह उसकी शैशवावस्था में सारे कार्यों का वहन प्रेमपूर्वक करती है।<sup>31</sup> बौधायन भी इस बात का समर्थन करते हैं –‘पतितामपि तु मातरं विभृयात्’।<sup>32</sup> वसिष्ठ के अनुसार पतित पिता त्याज्य हो सकते हैं परन्तु माता में व्यभिचारिता जैसी अनेक त्रुटियां होने पर भी पतितारूप में वह त्याज्य नहीं है।<sup>33</sup>

माता का अपने सन्तान के विवाह कार्य में भी अधिकार था। बृहद्देवता में एक कथा प्राप्त है कि श्यावाश्व का विवाह दार्भ की कन्या के साथ तभी सम्पन्न हो पाया था जब दार्भकी पत्नी ने अर्थात् कन्याकी माता ने स्वीकृति प्रदान करदी थी।<sup>34</sup> मनुस्मृति की व्याख्या में मेघातिथि उल्लेख करते हैं कि जिस प्रकार पिता की अनुमति के बिना भाई अपनी बहन का दान नहीं कर सकता है उसी प्रकार पिता भी कन्या की माता की अनुमति के बिना पुत्री का दान नहीं कर सकते।<sup>35</sup> क्योंकि गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी दोनों की सहभागिता होती है और कन्या सन्तान दोनों से सम्बद्ध होती है।<sup>36</sup> दायभाग के समय में भी माता के अंश प्राप्ति में अधिकार की बात स्मृतिग्रन्थों में हुई है।<sup>37</sup>

अधिकारों के साथ साथ माता के रूप में परिवार में करणीय अनेक दायित्व उनके पास होते हैं। जन्म से लेकर गुरुकुल जाने से पूर्वतक सन्तानों के लालन-पालन में प्रमुखतः माता का ही उत्तरदायित्व रहता है। पालन-पोषण के क्रम में स्नान-ध्यान, स्वच्छ वस्त्रों का परिधान, शिशु के आहार-स्वास्थ्य आदि का ध्यान माता ही रखती हैं। घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर ना भी माता के कर्तव्य में सम्मिलित है। इस प्रकार बालक का सर्वविध ध्यान रखना, चरित्र निर्माण करना, शिक्षा-दीक्षा देना तथा पारिवारिक व्यवस्था में अपना पूर्ण कार्य करने का गुरुतर-भार माता ही वहन करती हैं।

### **निष्कर्ष**

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि पारिवारिक सम्बन्धों तथा स्त्री के रूप में माता का स्थान सर्वोपरि है। सन्तान के भरण-पोषण में यद्यपि पिता की भी महती भूमिका होती है किन्तु नौ मास तक गर्भ में रखकर अपने रक्तमांस से सींचकर सन्तान के शरीर निर्माण में माता के त्याग को कहीं भी तोला नहीं जा सकता है। इसीलिए समस्त देवी शक्तिओं को ‘मां’ कहकर सम्बोधित किया जाता है। वस्तुतः स्त्री जीवन की सफलता मातृत्व में है। माता बनने के बाद ही वह अपने पूर्ण नारीत्व को प्राप्त करती है।

### **पादटिप्पणी**

- |  |                                       |  |
|--|---------------------------------------|--|
| 1. तै. उ. १.११.१   | 4. १.१६०                              | 8. ऋ. १.१५८.१,४,६, १.१४७.३, १.१५२.६,                     |
| 2. ऋ. ५.४.१०   | 5. ऋ. १.१६४.३३, १०.६२.३               | ४.४.१३   |
| 3. पृ. ३१५, सूत्रसाहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति | 6. पृ. ३८४, वैदिक साहित्य और संस्कृति | 9. पृ.स. ३८४; वैदिक साहित्य और संस्कृति: वाचस्पति गैरोला |
|  | 7. वहीं, १.१५६; १०.५४                 |  |

- |  |   |  |
|--|---|--|
| 10. ऋ. १.१६.५  | 22. तै.उ. १.११.२  | 29. वहीं, ३१.८-१०  |
| 11. अ.वे. ८.६.२५   | 23. ऋ. ७.१०१.३, १.२४.१  | 30. न कर्हिचिन्माता पित्रोरवृत्तिः –<br>गौ.घ. ३.३.१५   |
| 12. श.ब्रा. ५.३.१.१३   | 24. गौ.घ. १.२.५६  | 31. मातापुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते<br>तस्यां शुश्रुषा नित्या पतितायामपि –<br>आ.घ. १.१०.२८.९ |
| 13. निरुक्त ३.५  | 25. व.घ. १३.४८  | 32. बौ.घ. २.२.३.४३   |
| 14. ऋ. १९.८६.९, अ.वे. २०.१२६.९   | 26. वहीं, 'मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति<br>जन्तवः' – ८.१६  | 33. पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे<br>न पतति – व. घ. १३.४७                                  |
| 15. श.ब्रा. १४/९/४/२६  | 27. त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति।<br>पिता माता आचार्यश्च। तेषां नित्यमेव<br>शुश्रुषुणा भवितव्यम्। यत्ने ब्रुयु-<br>स्तत्कुर्यात्। तेषां प्रियहितमाचरेत्।<br>न तैरननुज्ञातः किञ्चिदपि कुर्यात्।<br>- वि.घ. ३१.१-६ | 34. वृ.५.४१  |
| 16. ऋ. १०.८५.४४-४५; गो.ब्रा. १११.१२;<br>शु.य.वे. १९.११; श.ब्रा. १.७.२.११ | 28. एत एव त्रयो वेदा<br>एत एव त्रयः सुराः।<br>एत एव त्रयो लोका एत एव<br>त्रयोऽग्नयः ॥ वि.घ. ३१.७  | 35. मनु. ९.१५१, १६८  |
| 17. अ.वे. ३.२३.२; ६.११   |   | 36. याज्ञ०.२.१२३, नारद०.४.१३.१२  |
| 18. पृ. ५६५, संस्कृत वाङ्मय का बृहद्<br>इतिहास (वेदखण्ड)                 |   | 37. पृ. ८६४, भाग -२, धर्मशास्त्र का<br>इतिहास, पी.वी.काणे  |
| 19. अ.वे. ३.३०.२   |   |  |
| 20. ऋ. ४.६.७   |   |  |
| 21. ऋ. ५.१५.४; मातेव पुत्रं<br>विभृतामुपस्थे – ६.७५.४                    |   |  |

## सन्दर्भग्रन्थसूची

### प्राथमिकस्रोत

1. तैत्तिरीय उपनिषद्. व्याख्याकार-स्वामी त्रिभुवनदास. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २०१७
2. आचार्य, तपोनिष्ठ पं. श्रीराम. ऋग्वेदसंहिता. युगनिर्माण योजना, मथुरा: २००८
3. आचार्य, तपोनिष्ठ पं. श्रीराम. अथर्ववेदसंहिता. युगनिर्माण योजना, मथुरा: २००८
4. शतपथब्राह्मण. दिल्ली: नाग प्रकाशन, १९९०
5. यास्कमुनिप्रणीतं निरुक्तम्. झा, मुकुन्दशर्मा. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली: २००२
6. गोपथब्राह्मण. सम्पादिके आचार्या डा. प्रशादेवी, मेधादेवी. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २००८
7. शुक्लयजुर्वेद. व्याख्याकार प. रामकृष्ण शास्त्री. वाराणसी: चौखम्बा विद्या भवन, २०१३
8. गौतम धर्मसूत्र. डॉ. नरेन्द्रकुमार. दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, २०१०
9. आपस्तम्ब धर्मसूत्र. डॉ. नरेन्द्रकुमार आचार्य. दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, २०१०
10. याज्ञवल्क्यस्मृति 'मिताक्षरा' टीका सहित हिन्दीव्याख्या. डॉ. गङ्गासागरराय (व्याख्याकार). नई दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २००२
11. शास्त्री, हरगोविन्द. मनुस्मृति. बनारस: चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९८५

**द्वितीयकस्रोत**

1. गुप्त, देवेन्द्रकुमार. सूत्र साहित्य में वर्णित भारतीय समाज एवं संस्कृति. दिल्ली: प्रतिभाप्रकाशन, २०१०
2. गैरोला, वाचस्पति. वैदिक साहित्य और संस्कृति. दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २०१३(पुनर्मुद्रित)
3. उपाध्याय, आचार्य श्रीबलदेव. समस्कृत वाग्ङ्य का बृहद् इतिहास प्रथमखण्डवेद. लखनऊ: उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान, १९९६
4. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीयभग. लखनऊ: उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, २००३

**मीनाक्षि खनाल**

पीएच. डी. तृतीयवर्ष शोधछात्रा

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली: ११००६७

Contact No. : 8402928255

E-mail : khalaminakshi@gmail.com

\*\*\*\*\*

## वेदकालीन शिल्प और कलाएं तथा वर्तमान में उसकी प्रासंगिकता

डा. जितेन्द्र कुमार तिवारी, मुम्बई, महाराष्ट्र

### शोध – सारांश

मनुष्य के विकास के साथ उसके जीवन में कलाओं का भी विकास होता आया है। ईश्वर प्रदत्त गुणों को निखारने और उनको नवीनता देने के कार्य में मनुष्य में कलाओं के प्रति सहज विकास होता गया। प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक मनुष्य को अपने हाव-भाव प्रकट करने के लिए, अपनी अभिव्यक्ति, समाज को शिक्षा देने एवं मनोरंजन आदि प्रयोजनों से अनेक कलाओं का प्रदर्शन होता रहा है। हमें लगता है कि वर्तमान में कला का स्वरूप अत्यंत व्यापक हो गया है किंतु ऐसा नहीं है। प्राचीन काल से ही कला का स्वरूप अत्यंत व्यापक था। आज जो भी कलाएं समाज में प्रचलित हैं, उनमें से अधिकांश कलाएं वैदिक कालीन संस्कृति में विद्यमान थीं।

### Key Words:

गायन, वाद्य, नृत्य, पाक, प्रसाधन एवं तक्षण शिल्प और कलाएं

शिव की उपलब्धि के लिए सत्य की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति कला से मानी जाती है। कलाएं जीवन का आनन्द, दिव्य अनुभूति, प्राणों की अभिव्यंजना को प्रदर्शित करती हैं। अथर्ववेद के एक मंत्र 'यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि'के अनुसार सृजनशीलता ही मानव जीवन की सार्थकता मानी गई है। मनुष्य का सृजन ईश्वर ने कियाउसे सर्जनाशक्ति दी गई और मनुष्य द्वारा मानवीय संस्कृति के इतिहास में प्रागैतिहासिक काल से लेकर अद्यतन युग तक कला की समृद्ध परंपरा चली आ रही है। भारतीय कलाओं की युगों- युगों पुरानी महान धरोहर तो आज स्मारकों के रूप में पुरातात्विक रूप में सुरक्षित नहीं रह पाई है, किंतु प्राचीन वैदिक वांगमय ने अपनी ज्ञान सरिता में उन्हें सुरक्षित एवं संरक्षित रखा है जिसके माध्यम से वैदिक शिल्प एवं कला के स्वरूप को जाना जा सकता है।

संस्कृत वांगमय में शिल्प एवं कला शब्द एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, उनके बीच कोई विभाजक रेखा नहीं मानी गई है। यहां पर हम क्रमागत रूप से विभिन्न कलाओं की प्राचीनता एवं वर्तमान में उनके प्रचलन को देखेंगे।

### नृत्य कला-

मनुष्य के आनंद को अभिव्यक्त करने के लिए सर्वप्रथम उसने जो हाव-भाव करण अंगहार आदि के साथ लय और ताल के अनुरूप शरीर के अंगों का संचालन दिखाया, वहीनृत्य कहलाया। नृत्य के साथ वाद्य और गीत की आवश्यकता होती थी। अदिति के देवोत्पत्ति सूक्त में देवों के नृत्य(तीव्र स्पंदन या गति) का उल्लेख हुआ है।

‘अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत’। ऋ.१०.१०४.१

यद्यपि नृत्यकला के प्रत्यक्ष संदर्भ ऋषिकाओं के सूक्तों में नहीं पाए जाते हैं किंतु नृत्य कला के मूल धर्म अंग संचालन या ले पूर्ण गति तीव्र गति का ज्ञान इनसे होता है। आज के युग में नृत्य के अनेकों प्रकार प्रचलित हो गये हैं किंतु सभी में हाव-भाव, अंग-संचालन, गति, ताल लयादि का ही प्रमुख समायोजन या परिवर्तन होता है।

### गीत, गान या गायन कला-

संगीत रत्नाकर में कहा गया है कि 'मन को आनंदित करने वाली आरोह अवरोह के साथ प्रयुक्त स्वर लहरी, 'गीत' कही जाती है। 'यज्ञ' विवाह शुभ अवसर पर गीत गाने की प्रथा ऋग्वैदिक युग में प्रचलित थी। ऋग्वेद के एक मंत्र में पवमान सोम के लिए गान किए जाने का उल्लेख मिलता है-

सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत। ऋ.९.१०४.१

इस गान से संकेत मिलता है कि सब लोग मिलकर एकसाथ समूह में गीत गाया करते थे। इस प्रकार का समूह गान सोम देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाता था इसके साथ ही विवाह के अवसर पर समाज के मनोरंजन के लिए प्रसिद्ध गाथाओं के गीत गाये जाते थे। यह परंपरा वैदिक युग से प्रारम्भ होकर आज भी चली आ रही है। आज भी भारतीय समाज में विवाह एवं अन्य मांगलिक अवसर पर लोक परम्पराओं की कहानियों से जुड़े हुए गीत गाये जाने का प्रचलन विद्यमान है।

#### **वाद्य कला-**

वैदिक साहित्य में वीणा, शंख, पणव, तूर्य, दुंदुभी आदि वाद्य यंत्रों का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद में भी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नाडी नामक वाद्य यंत्र बजाकर स्तुतियां किए जाने का उल्लेख मिलता है-

**इयमस्यधम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः। ऋ.१०.१३५.७**

राजा की विजय की सूचना दुंदुभी नामक वाद्य यंत्र बजा कर दी जाती थी। इसके साथ ही शुभ अवसरों पर 'कर्करि' नामक वाद्य यंत्र का को बचाया जाता था।

**यदुत्पतंवदसि कर्करिथ्या। ऋ.२.४३.३**

ऋग्वेद के 'अरण्यानी' सूक्त में एक अन्य वाद्य यंत्र 'आघाटी' नामक वाद्ययंत्र का भी उल्लेख मिलता है। उससे विभिन्न प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न की जा सकती थीं।

कठोपनिषद् में गीत वाद्य आदि में निपुण दिव्यांगना स्त्रियों का वर्णन हुआ है जो अपने रूप एवं कलाओं से देवों का मनोरंजन करती थीं।

**इमा रामाः सरथाःसतूर्या न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः। कठोपनिषद् १.२५**

स्त्रियां इन कलाओं एवं शिल्प को अपनाकर अपना जीविकोपार्जन एवं धनोपार्जन भी कर सकती थीं।

#### **प्रसाधन कला-**

प्राचीन काल में कलात्मक रूप से सुसज्जित होने की कला को 'नेपथ्य योग' कहा जाता था। वर्तमान संदर्भ में नेपथ्य का अर्थ 'पर्दे के पीछे' अर्थात् जहां पर रंगमंच कलाकार या पात्र अपनी सजा, वेश-भूषा और अलंकरण करते हैं, से लिया जाता है। इस कला का प्रयोग विशेष अवसरों पर किया जाता था। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर के अनुसार देश और काल के अनुरूप वस्त्र आभूषण आदि से स्वयं को या दूसरों को शोभा के लिए मंडित करने की कला नेपथ्य योग कही जाती थी। स्नान के पश्चात् केशरचनाया केश-विन्यास से प्रारंभ होती थी। प्रसाधन- कला के चार अंग- केशरचना, अनुलेप या अंगराग, वस्त्र योग तथा आभरण योग होते थे।

#### **केशरचना-**

वधू के केशों को विशेष रूप से सजाया जाता था। इसकी दो विधियां थीं- ओपश और आभरण। पंडित बलदेव उपाध्याय के अनुसार जब केशों को गोलाकार रूप में लपेटकर ऊपर एक गांठ बांध दी जाती है, तब इस केश रचना को ओपश कहते हैं। तिसर के अनुसार यह संभवतः एक प्रकार की कृत्रिम वेणी है। श्रृंगाकृति केश रचना या केशों में धारण किए जाने वाले स्वर्ण आभूषण को 'कुरीर' कहा गया है। श्रृंगार की विधि चाहे जो भी रही हो किंतु यह बात ध्यातव्य है कि केशों की विशिष्ट सजा और अलंकरण की विधि हमारे वैदिक समाज में प्रचलित थी।

#### **अनुलेप या अंगराग-**

त्वचा की कांति श्री और शोभा बढ़ाने वाले विभिन्न प्रकार के अनुलेप और अंगराग का प्रयोग वैदिक काल से ही होता आ रहा है। ऋग्वेद में पुरुरवा उर्वशी संवाद के अंतर्गत सुजूर्णि, श्रेणी आदि अप्सराओं को अरुण अंगराग से रंजित कहा गया है। (ऋ.१०.८५.७) शीतकाल में स्त्रियां अपने कपोल वक्षःस्थल आदि पर कुमकुम (केसर) का लेप करती थीं तथा नेत्रों की ज्योति बढ़ाने एवं सौंदर्य के लिए आखों में अंजन

लगाया करती थीं। वर्तमान संदर्भ में देखें तो आज ये सभी प्रसाधन जैसे-त्वचा की देखभाल के लिए विभिन्न प्रकार के फेसवॉश, फेसपैक, बॉडीवाश, बॉडीलॉशन, कपोलों अर्थात् गालों पर रक्ताभा लाने के लिये पाउडर पफ़ से लेकर लिक्विड, अनेक प्रकार के प्रसाधन उत्पाद बाज़ार में भरे पड़े हैं। इसी प्रकार से नेत्रों के लिए आज विभिन्न प्रकार के काजल, आई लाइनर, आई शैडोज़, मस्कारा आदि प्रसाधन सामग्री का प्रयोग बहुतायत में हो रहा है।

### **वस्त्र योग-**

ऋग्वैदिक युग में भी सुंदर नेपथ्य या या सुंदर परिधान का विशेष महत्व होता था। ऋतुओं और अवसर के अनुकूल विविध प्रकार के सुंदर वस्त्रों को कलात्मक ढंग से धारण किया जाने का प्रचलन था। विवाह के समय वधू के लिए विशेष रूप से वस्त्रों का चयन किया जाता था। 'विवाह- सूक्त' में नववधू के लिए तीन प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है- आशसन, विशसन और अधिविकर्तन-

**आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्। सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा नु शृण्वति॥ ऋ.१०.८५.३५**

आशसन अर्थात् धारीवाला या झालरदार वस्त्र, विशसनम अर्थात् सिर पर धारण किया जाने वाला वस्त्र तथा अधिविकर्तनम अर्थात् विशेष रूप से से थान को काटकर बनाया गया सिला हुआ वस्त्र। वैदिक युग में वस्त्रों को बुनने एवं सिलने दोनों ही प्रकार के व्यवसाय प्रचलित थे। स्त्रियों द्वारा सूत कातना, कपड़े बुनना तथा वस्त्र तैयार करने के उदाहरण मिलते हैं। वे लोग अपनी सूझबूझ से सुंदर, आकर्षक एवं दीर्घ अवधि तक चलने वाले वस्त्रों का निर्माण करती थीं।

**या अकृन्तन्नवयनं याश्च तस्मिन्ने या देवीरन्तां अभितोऽददन्त। तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥ अथर्व.१४.१.४५**

शिल्पी स्त्रियां वस्त्रों पर कशीदाकारी या विभिन्न आकृतियों की रचना किया करती थीं। साथ ही ऋग्वैदिक युग में स्वर्णमणि, मुक्ता आदि का उपयोग आभूषण निर्माण में किया जाता था। सुनहरे या रङ्ग-विरङ्गे धागे से वस्त्रों पर कशीदाकारी भी की जाती थी। इस प्रकार वस्त्रों पर नाना आकृतियों या रूप की रचना करने वाली शिल्पी स्त्रियाँ 'पेशस्करी' कही जाती थीं। 'पेशस्करी' शुक्ल यजुर्वेद ३०.९ शिशुओं को भी आभूषणों से सजाना माताओं का एक प्रिय कार्य था।

**शिशुं न यज्ञैः परि भूषत स्त्रिये। ऋ.९.१०४.१**

विदाई के समय सुंदर वस्त्रों एवं आभूषणों से संयुक्त कन्या दी जाती थी।

**न्यमृक्षाम योषणां न मर्ये। ऋ.३.३९.१४**

यात्रा के समय वधू को एक चादर ओढ़ने का संदर्भ मिलता है।

**चित्तिरा उपबर्हणम्। ऋ.१०.८५.७**

आज के समय में तो जन-सामान्य वर्ग से लेकर आभिजात्य वर्ग तक के सभी लोगों में वस्त्रों को लेकर नित्य नवीन परिधानों की होड सी लगी हुई है। अनगिनत प्रकार के वस्त्रों एवं फैशन उद्योग ने अपनी अलग ही पहचान बना रखी है।

### **पाक कला-**

विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजन या आहार बनाने की कलाएं मनुष्य को प्रारंभ से ही पता थी। ऋग्वैदिक काल में लोगों का भोजन सादा, पौष्टिक और सात्विक होता था। जब नववधू घर में पहुंचती थी तो पाक कला, रस और आस्वाद के विशेषज्ञ व्यक्ति द्वारा, परिवार के उत्तम स्वास्थ्य के लिए वधू को शिक्षा दी जाती थी-

**तृष्टमेतत् कटुकमेतद्पाण्ड्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्या यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति॥ ऋ.१०.८५.३४**

वधू को बताया जाता था कि वह तीखा अर्थात् तृष्णा और दाह जलन उत्पन्न करने वाला या कटु और पित्त को बढ़ाने वाला, घृणित और



विषाक्त भोजन न बनाएं। ऋषिकाओं के सूक्तों में अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों के संदर्भ में प्राप्त होते हैं जैसे-

1. धाना- भुने हुए जौ की लाई- धाना, वर्तमान में चावल, 2. करम्ब- जौ के आटे में दही मिलाकर बनाया गया खाद्य, 3. अपूप- आटा, दूध, धृत औरगुड आदि मिलाकर तैयार किया गया खाद्य अपूप(मालपुआ), इंद्र को विशेष प्रिय बताया गया था, 4. धृत, 5. पानक रस एवं आसव, 6. मंथा- दही को मथ कर मंथा या मट्टा बनाया जाता था। 7. मधु का प्रयोग भोजन को मीठा बनाने के लिए किया जाता था। 8. सोमरस वैदिक आर्यों का सर्वाधिक प्रिय पेय था सोमयागों में देवताओं की समर्पित करने के बाद स्वयं पीते थे। यह रस हरे भूरे रंग का होता था। यह सोम लता नामक एकविशेष प्रकार की लता से निर्मित होता था। मक्खन से स्वादिष्ट भोजन बनाना पाक कला का एक अंग था। आग में पका कर तैयार किए गए पेय पदार्थों को अग्नि निष्पादय तथा बिना अग्नि में पकाए, तैयार किए गए पदार्थों को जैसे शरबत, फलों के रस, मधु आदि को अनग्नि निष्पाद्य कहा गया।

### **धातु कर्म-**

ऋग्वैदिक काल में तांबा, सोना, चांदी आदि धातुओं को गला कर विभिन्न आभूषणों का निर्माण किया जाता था। हिरण्य अर्थात् सुवर्ण को खादानों से निकाला जाता था। अग्नि में तपाकर उसे शुद्ध बनाया जाता था और उसके बाद उसके आभूषण बनाए जाते थे। सुवर्ण आभूषणों को बनाने वाले व्यक्ति को हिरण्यकार अथवा स्वर्णकार कहा जाता था। अयसादि धातुओं को गलाने का कार्य करने वाले शिल्पी की संज्ञा 'कर्मार' थी। अदिति दाक्षायणी के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि सृष्टि-रचना के लिए, ब्रह्मणस्पति ने, सृष्टि-रचना के उपादानों को उसी प्रकार प्रज्वलित किया था, जिस प्रकार कर्मार (लुहार) धौंकनी से अग्नि को प्रज्वलित करता है -

**ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। ऋ.१.७२.२**

### **काष्ठ शिल्प या तक्षण कला-**

तक्ष मतलब काटना और छीलना। लकड़ी को काट -छांट कर, छीलकर, आसन, शयन, रथआदि बनाने की कला प्रसिद्ध थी। इसको वर्धकी कर्म, ( बढई का काम) या दारूकर्म तथा काष्ठविधि या काष्ठशिल्प भी कहा जाता था। इसकला की भी प्राचीनता प्रागैतिहासिक युग से मानी जाती है। इस युग के मानव ने पत्थरों को तराश कर, घिस कर और चिकना करके परिष्कृत औजार, बर्तन, आभूषण और मनके आदि तैयार किए। उसी युग में धारदार पत्रों से हड्डी और लकड़ी को काट छीलकर विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाए गए। ऋग्वैदिक युग में काष्ठशिल्प की विशेष उन्नति हुई। काष्ठशिल्प की कल्पना एक उत्कृष्ट तक्षण शिल्प के रूप में की गई।

**किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। ऋ.१०.८१.४**

वैदिक युग में आवागमन का मुख्य साधन रथ होता था। नववधू पतिगृह की यात्रा रथ से ही सम्पन्न करती थी।' रथ शिल्प के कुशल शिल्पी भृगु माने गये। इनमें पुराने रथों को भी चलने योग्य बनाने की क्षमता थी

**युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः। ऋ.१०.३९.४**

रथ के विभिन्न अंगों एवं रथ की कारीगरी का ज्ञान घोषा एवं सूर्या के सूक्तों से होता है। रथ का निर्माण किंशुक पलाश या शाल्मली (सेमल) की दोषरहित लकड़ी से किया जाता था। सुसज्जित करने के लिए नाना प्रकार की रूपाकृतियाँ या अलङ्करण बनाये जाते थे, जिनमें सुनहरे रंगों या सोने के पत्तों का उपयोग होता था। इसके चक्र सुन्दर और सुडौल होते थे। सूर्या ने पतिगृह के समय जिस रथ पर आरोहण किया था, उसमें ये सभी विशेषतायें थीं।

**सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्। ऋ.१०.८५.२०**

श्रेष्ठ रथ मन से भी अधिक तीव्र गति वाले 'मनसोजवीयस' होते थे।

**आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामुभवश्चक्रुश्चिना। ऋ.१०.३९.१२**

वर्तमान में आर्कीटेक्चर, इंटीरियर डिजाइनिंग ऑटोमोबाइल इंजीनियरिंग भी बहुत विस्तृत एवं सुंदर व्यवसाय बना हुआ है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैदिक सभ्यता एक अत्यंत समृद्ध शाली सभ्यता थी जिस सभ्यता में अनेकानेक कलाएं एवं शिल्प क्रियाएं प्रचलित थीं। इस सभ्यता में स्त्रियों को भी अपनी क्रियाओं एवं कलाओं के प्रदर्शन हेतु पूर्ण स्वतंत्रता थी। गायन कला हो, नृत्य हो, वाद्य हो, प्रसाधन से जुड़े सभी पक्ष- केश से लेकर वस्त्र तक, पाककला या तक्षण कला सभी में पुरुषों के साथ ही साथ स्त्रियों द्वारा महत्वपूर्ण प्रदर्शन के उल्लेख वेद काल में मिलते हैं। आधुनिक मानव की यह धारणा है कि 21वीं सदी में मनुष्य ने बहुत विकास किया है और उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप बहुत सी कलाएं विकसित हो गई हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व हमारी प्राचीन वैदिक सभ्यता में यह कलाएं न केवल विद्यमान थीं अपितु पूर्ण रूप से विकसित भी थीं।

### संदर्भ-संकेत:

- ❖ ऋग्वेदसंहिता, नागपब्लिशर्स, दिल्ली, 1994
- ❖ यजुर्वेदसंहिता, नागपब्लिशर्स, दिल्ली, 1994
- ❖ अथर्ववेदसंहिता, नागपब्लिशर्स, दिल्ली, 1994
- ❖ सिद्धांतालंकार, सत्यव्रत, एकादशोपनिषद, विजयकृष्ण लखपाल एण्ड कंपनी, देहरादून
- ❖ शास्त्री, मंगलदेव, भारतीय संस्कृति का विकास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2003
- ❖ घोष इला, वैदिक संस्कृति संरचना, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2012
- ❖ रघुवंश, भरत का नाट्यशास्त्र, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1964.
- ❖ डॉ. एस. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1998
- ❖ उपाध्याय, आचार्य बलदेव, भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्भा ओरियंटालिया, वाणारसी, 1977

**डा. जितेन्द्र कुमार तिवारी**

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,

संस्कृत विभाग, एस. एन. डी. टि. महिला विश्वविद्यालय,

1, एन. टी. रोड, न्यू मरीन लाईंस, मुम्बई -400020 महाराष्ट्र

मोबैल् नं. : 9324642152,

ई-मेल : jitendrak.tiwaari@gmail.com

\*\*\*\*\*

## ‘अजातवाद’ – माण्डुक्यकारिका के संदर्भ में

डा. प्रियंककुमार एन्. रावल, वल्लभविद्यानगर, गुजरात

वेदों के अलौकिक ज्ञान का मंथन उपनिषदों में हुआ है और वही ज्ञान जीव को परब्रह्म की समानता और समीपता का सही मार्ग दिखाता है। भारतीय दर्शन के प्रस्थानत्रयी का मूल ग्रन्थ के रूप में उपनिषद् है और भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्र वो दोनों ग्रन्थ उसके उपजीव्य ग्रन्थ माना गया है, जिसमें उपनिषद् में प्रतिपादित ज्ञान का विश्लेषण किया गया है। जीव का अन्तिम सत्य क्या है? अज्ञानी जीव को माया से बचने के लिए क्या करे? और किसके पास जाना चाहिए? मृत्यु पर विजय प्राप्त हो सकता है? जीवन निर्वाह करते-करते कैसे मोक्ष की अनुभूति करे? द्वैत प्रपंच क्या है? जीव, जगत, ब्रह्म क्या है? ऐसे अनेक प्रश्नों का समाधान उपनिषदों में निहित है। इसीलिए कहा गया है की “ब्रह्मज्ञान का शिरोभाग यानि उपनिषद् (वेदान्त)” उपनिषद् से प्राप्त हुआ ज्ञान जीवमात्र के विकास और निःश्रेयस के लिए है।

उपनिषद् शब्द व्याकरण के नियम अनुसार ‘उप’ और ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक ‘सद्’ धातु को ‘क्विप्’ प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। ‘सद्’ धातु के तीन अर्थ मान्य हैं : १. विशरण (विनाश) २. गति (ज्ञान और प्राप्ति) ३. अवसादन (शिथिल करना)। गति शब्द का प्रयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति ऐसे तीन सन्दर्भ में होता है। “उपसामिष्येन, निनितरां, प्राप्नुवन्ति परमं ब्रह्म यया विद्या सा उपनिषद्” यहाँ प्राप्ति अर्थ ज्यादा सुसंगत है अर्थात् जिस विद्या से परब्रह्म की समीपता और समनता प्राप्त हो सके वही उपनिषद् है। यदि विशरण, गति और अवसादन यह तीन अर्थ के आधार पर उपनिषद् अर्थ करे तो कह सकते हैं कि – “जो पाप-ताप को नाश करे, सत्य ज्ञान प्रदान करे, आत्मा की प्रगति हो और अविद्या को शिथिल करे वही उपनिषद् है।”<sup>1</sup>

आधुनिक युग में अनेक देवता, अनेक देवी, अनेक संप्रदाय का आधार लेकर मनुष्य धर्म का पालन करता है। लेकिन उपनिषद् में ‘अयमात्मा ब्रह्म’<sup>2</sup> आत्मा की परब्रह्म के साथ एकरूपता प्रतिपादित करके जीव का धर्म कुछ भिन्न बताया है। उपनिषद् के ज्ञान से ज्ञापित होता है कि –

**ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्तात्, ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।**

**अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥<sup>3</sup>**

“ब्रह्मैवेदमृतं पुस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं वरिष्ठम्”

सर्वत्र जो जगत दिखाई देता है वह एक ही तत्त्व ब्रह्म है। किन्तु हमें प्रश्न है कि वह तत्त्व का रहस्य क्या है? उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञापित होता है कि ‘सर्वं ह्येतद् ब्रह्म’<sup>4</sup> ब्रह्म एसा एक तत्त्व है जो इस सर्व का कारण है। यदि सभी जीव और जगत का कारण एक ही ब्रह्म है तो हमें भेदभाव क्यों दिखाई देता है? इसका समाधान उपनिषद् में कहा गया है कि –

**अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥<sup>5</sup>**

**मयाऽविधे विहायैव उपाधि परजीवयोः । अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥<sup>6</sup>**

जीव कि उपाधि अंतःकरण है और भगवान कि उपाधि माया है। उह उपाधि के कारण जीव अपने आपको भगवान से भिन्न मानता है। जिसके कारण आप मेरे भगवान है और मैं आपका भक्त हूँ एसी भेदयुक्त भक्ति करता है। इस भेदभाव के कारण स्वस्वरूप का अज्ञान है। जीव में अज्ञान कि निवृत्ति कैसे होती है?

उपनिषद् का सार यह कहता है कि, “जब अधिकारी शिष्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु से उपनिषद् का ज्ञान प्राप्त करके उसमें

बताये गए महावाक्यों के उपदेश द्वारा जीव की माया की उपाधि का स्वस्वरूप आत्मा में बाध हो जाए तभी आत्मसाक्षात्कार होता है । वह स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है और अद्वैत की अनुभूति होती है । सभी उपनिषदों का सार अद्वैतवाद ही है । उपनिषदों में अद्वैत का लक्षित अर्थ ब्रह्म ही है । सामान्यरूप से अद्वैत का अर्थ 'भेद रहित' एसा करते हैं ।

शाङ्करवेदान्तकोष अनुसार 'दो होने' का ज्ञान वह द्वैत और 'दो होने' के ज्ञान का अभाव वह अद्वैत<sup>7</sup> वेदान्तकोष अनुसार अद्वैत का अर्थ जीव-ब्रह्म और जगत ब्रह्म की एकता ।<sup>8</sup> शंकराचार्यजी ने एक ही तत्त्व का स्वीकार किया है ( न द्वैत इति अद्वैत ) । जहां दो तत्त्व नहीं हैं वह अद्वैत ही सत्य है । उनका इतना ही कहना है कि, "शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावयुक्त एक परमात्मा ब्रह्म माया से विशिष्ट होकर सगुण अपरब्रह्म हो जाता है, जगत का निमित्त और उपादान कारण बनता है । ब्रह्म एक ही तत्त्व है । किन्तु माया की उपाधि के कारण कारणरूप ब्रह्म और कार्यरूप ब्रह्म यह दो रूप से आभासित होते हैं । सगुण ब्रह्म की केवल व्यवहारिक सत्ता है और पारमार्थिक सत्ता केवल निर्गुण ब्रह्म की ही है । इसी एक तत्त्व की प्रधानता के कारण इस सिद्धांत को अद्वैत कहते हैं । उपनिषद् में वर्णित अद्वैतवाद कोई कल्पना नहीं है अपितु एक अनुभव है जो उपनिषद् के द्रष्टाओं द्वारा प्राप्त सत्य है ।

माण्डुक्योपनिषद् पर गौडपादाचार्यजीने माण्डुक्यकारिका नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है । जिसमें अद्वैतवाद को अजातवाद के रूप में प्रतिपादित किया है । मनुष्य अज्ञानता के कारण भेद दृष्टि से देखता है । अतः सभी उपनिषद् का ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति के लिए है । माण्डुक्यकारिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्धि में पाँच प्रकार के भेद भासमान होते हैं ।

- १) जीव-इश्वर का भेद जो क्रमशः अन्तःकरण माया की उपाधि के कारण उत्पन्न होता है ।
- २) जीव-जीव का परस्पर का भेद जो प्रत्येक जीव की अन्तःकरण की उपाधि के कारण उत्पन्न होता है ।
- ३) जीव-जड का भेद जो क्रमशः अन्तःकरण और नामरूपमय उपाधि के कारण उत्पन्न होता है ।
- ४) इश्वर-जड का भेद जो क्रमशः माया और नामरूपमय उपाधि के कारण उत्पन्न होता है ।
- ५) जड-जड का भेद जो प्रत्येक जड की भिन्न भिन्न नामरूपमय उपाधि के कारण उत्पन्न होता है ।

उपरोक्त अज्ञानी के पाँच भेद की निवृत्ति उपनिषद् में प्रतिपादित अद्वैत ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से ही होती है । माण्डुक्यकारिका में गौडपादाचार्यजी अजातवाद द्वारा अद्वैतवाद का विवेचन करते हैं । जिसमें अद्वैतवाद की मुख्य तीन प्रतिज्ञा देकर स्पष्ट करते हैं ।

- १) कुछ उत्पन्न नहीं होना ।
- २) अतः सर्व मिथ्या है ।
- ३) अतः अद्वैत ही सत्य है ।

प्रथम प्रतिज्ञा को प्रतिपादित करते हुए गौडपादाचार्यजीने माण्डुक्यकारिका में कहा है कि .....

**न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते। एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥<sup>9</sup>**

तात्पर्य इतना ही है कि सच्चा जीव उत्पन्न नहीं होता, उसके जन्म की सम्भावना भी नहीं है । क्योंकि उसको उत्पन्न करने के लिए कोई सही कारण उपलब्ध नहीं है । अजन्मा ब्रह्म में कोई सच्चा जीव और सच्चे जगत की उत्पत्ति नहीं होती । अतः यहाँ अजन्मा ही सर्वोत्तम सत्य है । प्रथम प्रतिज्ञा का प्रमाण उपनिषद् के वाक्यों से होता है । जैसे कि - "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतिरित्य नुशासनम्।"<sup>10</sup> यहाँ सही कार्य उत्पन्न करने के लिए सही कारण होना चाहिए । समग्र ब्रह्माण्ड के पदार्थ पाँच स्थूलभूत से उत्पन्न होते हैं । सूक्ष्मभूत माया से उत्पन्न होता है । अतः माया सभी कार्य के प्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण है । किन्तु माया कहाँ से उत्पन्न होती है ? वह तय नहीं हो सकता ।

प्रश्न यह होता है कि निर्गुण ब्रह्म से उत्पन्न है एसा माने तो ? तो वह सम्भव नहीं है । क्योंकि माया तो जड है और ब्रह्म चेतन है । चेतन ब्रह्म में से जड माया उत्पन्न नहीं हो सकती । चेतन में से चेतन ही उत्पन्न होता है । अतः ब्रह्म माया का उपादान कारण नहीं है । चेतन निर्विकार है । जो वह कुछ कार्य उत्पन्न करे तो ब्रह्म विकारी बन जायेगा अतः माया किस तत्त्व में से उत्पन्न नहीं हो सकती । चेतन में से चेतना ही उत्पन्न होता है । अतः ब्रह्म माया का उपादान कारण नहीं है । चेतना निर्विकार है । जो वह कुछ कार्य उत्पन्न करे तो ब्रह्म विकार बन जायेगा । अतः ब्रह्म में से माया उत्पन्न नहीं हो सकती । अतः माया किस तत्त्व में से उत्पन्न हुई है यह निश्चित करने के लिए कोई आदि कारण दिखाई नहीं देता । आदि कारण के अभाव में माया की उत्पत्ति का भी अभाव ही सिद्ध हुआ है । अतः माया का जन्म हुआ ही नहीं । इस लिए माया और उनके कार्यों की प्रातिभासिक सत्ता है । पारमार्थिक सत्ता नहीं है । किन्तु यह सर्व जगत और जीव है, वह क्या है ? उस द्वितीय प्रतिज्ञा से उत्तर देते हुए गौडपादाचार्यजी कहते हैं कि – “इस लिए सभी दृश्यमान जगत और जीव मिथ्या है ।”

**यथा स्वप्नेद्वयाभासं स्पन्दतेमायया मनः । तथा जाग्रद्वयाभासं स्पन्दतेमायया मनः ॥**

**अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः । अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रत् संशयः ॥<sup>11</sup>**

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में मन माया के कारण ही द्वैतरूप में भासमान होता है । उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी मन माया के कारण ही द्वैतभासरूपा से स्फुरित होता है । उसमें सन्देह नहीं कि स्वप्नावस्था में अद्वय मन भी द्वैतरूप में भासमान होता है । अतः जाग्रत अवस्था में भी निःसन्देह रूप से अद्वय मन ही द्वैतरूप से भासित होता है । उपरोक्त कारिका से जाग्रत और स्वप्न की समानता बताई गई है कि – “जाग्रत के पदार्थ भी स्वप्न के पदार्थों के समान मिथ्या ही है । जन्म के अभाव में पदार्थ (वस्तु) का भी अभाव होता है” अर्थात् माया और जन्म के अभाव में माया नामक पदार्थों का भी अभाव ही सिद्ध होता है । इसी लिए दृश्यमान माया सत् नहीं अपितु मिथ्या है । जिन उपनिषद् में माया में से सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बताया गया है, वह केवल ब्रह्म में माया का अध्यारोप बताया गया है । अर्थात् जो अल्प अधिकारी है जो निर्गुण ब्रह्म कि बात को समझ नहीं सकते वह लोग आत्मज्ञान से वंचित रह जाय उस हेतु से ब्रह्म में मिथ्या माया का अध्यारोप करके मिथ्या सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम मिथ्या ही बताया गया है और वही माया का बाद में ब्रह्म में अपवाद बताया गया है । इस प्रकार से उपनिषद् में अधिकारी न हो फिरभी उस मनुष्य का उत्थान हो एसी युक्ति बताई गई है । जैसे कि रज्जु में आभास होने वाले सर्प को मिथ्या कहते हैं । वह मिथ्या सर्प सत्य रज्जु का स्थान नहीं के सकता । इसी लिए ‘सभी मिथ्या है’ वह द्वितीय प्रतिज्ञा गौडपादाचार्यजी सिद्ध करते हैं ।

सभी मिथ्या है तो सत्य क्या है ? तृतीय प्रतिज्ञा द्वारा गौडपादाचार्यजी कहते हैं कि – अद्वैत सत्य है । अज्ञानी को द्वैतज्ञान की निवृत्ति अद्वैतज्ञान से ही होती है । वही सत्य ब्रह्मज्ञान है ।

**ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा । ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥**

**अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा । अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥**

**अलातेस्पन्दमानेवैनाऽऽभासा अन्यतोभुवः । न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥**

**न निर्गता अलातात्तेद्रव्यत्वाभावयोगतः । विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेशतः ॥**

**विज्ञानेस्पन्दमानेवैनाऽऽभासा अन्यतोभुवः । न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥**

**न निर्गतास्तेविज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः । कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥<sup>12</sup>**

यहाँ ‘अलात’ का अर्थ ‘किसी पात्र में प्रज्वलित अंगारे भरे हो’ यह समजना है । अलात को सूत्र / दोरी से बांधकर गोल गोल घूमाने से

अग्नि का वर्तुल होता है उसे अलातचक्र कहते हैं । किन्तु अलातचक्र में तो अग्नि होता ही नहीं । अग्नि तो केवल अलात में ही होता है । किन्तु अलात का स्पन्दन होने से (घुमने के कारण) अलातचक्र का भ्रम उत्पन्न होता है । जब अलात के स्थिर होने से अलातचक्र भी चला जाता है । उसी प्रकार से ब्रह्म में भी माया का स्पन्दन होने से जगतरूप ब्रह्म उत्पन्न होता है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से माया का बाध होने पर मायावी जगत की निवृत्ति हो जाती है, तब केवल अद्वैत ब्रह्म ही अवशेष रहता है । एवं ब्रह्म ही सत्य है । माया मिथ्या है । अतः एक मात्र ब्रह्म ही अवशेष रहता है इस लिए द्वैत का निषेध होता है और अद्वैत की सिद्धि होती है । इस प्रकार अद्वैतवाद में श्रद्धा रखनेवाले लोग मानते हैं की "दुःख का मूल माया है और ब्रह्मज्ञान से माया का नशा होता है । जब माया दूर होती है तब जीव, जगत और ब्रह्म के बीच कोई भेद नहीं रहता है ।" यह अद्वैतवाद का सार उपनिषद् में है ।

चारों वेदों की शाखा के उपनिषदों के महावाक्यों द्वारा अद्वैत की ही सिद्धि हुई है । यह सभी उपनिषदों का तात्पर्य है ।

क्रम	महावाक्य	अर्थ	उपनिषद्	वेद
१.	प्रज्ञानं ब्रह्म ।	समानता ब्रह्म है ।	ऐतरेयोपनिषद्	ऋग्वेद
२.	अहं ब्रह्मास्मि ।	मैं ब्रह्म हूँ ।	बृहदारण्यकोपनिषद्	यजुर्वेद
३.	तत्त्वमसि ।	वह तु ही है ।	छान्दोग्योपनिषद्	सामवेद
४.	अयमात्मा ब्रह्म ।	आत्मा ब्रह्म है ।	माण्डूक्योपनिषद्	अथर्ववेद

### पादटिप्पणी

१. १०८ उपनिषद्, जानखंड, पृ. ०७
२. मांडूक्योपनिषद् - ४/२
३. मुंडकोपनिषद् - २/२/११
४. मांडूक्योपनिषद् - २
५. मांडूक्यकारिका आगमप्रमाण - १६
६. आध्यात्मोपनिषद् - ३२
७. शांकरवेदान्तकोष
८. वेदान्तकोष
९. मांडूक्यकारिका - ४८
१०. बृहदारण्यकोपनिषद् - २.०५.१९
११. मांडूक्यकारिका - २९, ३०
१२. मांडूक्यकारिका - ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२

### -संदर्भ ग्रन्थ -

१. श्री गौडपादीयकारिकासहित श्री अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद्  
संपादक : पं.पू. श्री नाथूरामशर्मा, प्रकाशक : श्री आनंदाश्रम, बिलखा, प्रथम आवृत्ति, संवत् २०५४, ई.स. १९९८
२. वेदान्तकोष  
संग्राहक : स्वामी आत्मानंदगिरि, प्रकाशन : सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय, मुंबई, चतुर्थ आवृत्ति, ई.स. १९८४

३. शांकरवेदान्तकोष  
प्रणेता : डॉ.मुरलिधर पांडे, प्रकाशन : संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम आवृत्ति, ई.स. १९२०
४. एकादशो उपनिषद्  
संपादक : जेठाभाई वेरिभाई पटेल, प्रकाशक : सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय, मुंबई, द्वितीय आवृत्ति, संवत् २००२
५. १०८ उपनिषद् (ज्ञानखंड)  
संपादक : पं.श्री राम शर्मा आचार्य, प्रकाशन : ब्रह्मवर्चस, शांतिकुज, हरिद्वार, प्रथम आवृत्ति, १९९८
६. उपनिषद् नवनीत  
संपादक : डॉ. किशोर शि. दवे, प्रकाशन : युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड, गुजरात राज्य, अहमदाबाद-६, द्वितीय आवृत्ति, १९९८
७. प्रस्थानत्रयी  
लेखक : प्रो.सी.वि.रावळ, प्रकाशन : प्रज्ञा प्रकाशन, अहमदाबाद, प्रथम आवृत्ति, १९९२

**डा. प्रियंकुमार एन. रावल**

सहायक अध्यापक, अनुस्नातक संस्कृत विभाग,

सरदार पटेल विश्वविद्यालय,

वल्लभ विद्यानगर- 388120, गुजरात

संपर्क नंबर : 7984896914

E-mail : [drpriyankraval1990@gmail.com](mailto:drpriyankraval1990@gmail.com)

\*\*\*\*\*

## नारियों की बालविवाहविमर्श : स्मृतिग्रन्थों तथा अद्यतन सामाजिक परिप्रेक्ष में

Dr. Chakradhar Behera (Puducherry)  
Professor & Supervisor

Dr. Joydeep Nama Das (Puducherry)  
ICSSR Post-Doctoral Fellow

### शोधसंक्षेप-

नारी जिन स्वभाव में कोमलता, भावुकता, और ममता की मूर्ति बनी रही। उसे सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ भिन्न-भिन्न स्थितियों से निपटना पड़ा है। भारत की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व की नारी जाति को ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। कभी वह पूजी गयी तो कभी उसे बन्धनों एवं निषेधों की जंजीरों से जकड़ दिया गया।

नारी के प्रति सम्मान की मात्रा को समाज की सभ्यता का एक मापदण्ड माना जाता है। नारी की निष्ठा एवं प्रेम ही वह सञ्जीवनी बूटी है जो उसमें परिवार जनों के भविष्य का निर्माण करती है। अतः किसी भी समाज के सर्वाङ्गीण अध्ययन एवं विकास के लिये नारी समाज के अध्ययन आवश्यक है।

भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति में बालविवाह के कारण सदैव उतार-चढ़ाव आता रहा। भारतीय नारी के बालविवाह का स्वरूप एवं स्थिति का वास्तविक अध्ययन तभी किया जा सकता है, जबकि स्मृतिग्रन्थों में नारी की बालविवाह की सही स्थिति को जाना जाये। नारी की सामाजिक और कानूनी स्थिति के आधार पर स्मृतिग्रन्थों में बालविवाह के विधि-निषेधों का उल्लेख मिलता है एवं वर्तमान समाज में उन बालविवाह के विधि-निषेधों का प्रासङ्गिकता कितना है? इन्हीं विषय को ध्यान में रखकर वर्तमान शोध प्रारूप का चयन किया गया है।

**बीजशब्द-** नारी, बालविवाह, समाज, अधिनियम, दण्ड।

पारिवारिक जीवन के विकास एवं स्थायित्व के लिए प्रत्येक समाज में विवाह एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। परिवार एवं वंश वृद्धि, व्यक्तिगत एवं सामाजिक विकास, धार्मिक एवं आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना के लिए विवाह अनिवार्य संस्कार माना गया है। हिन्दू समाज में कोई भी धार्मिक कार्य (यज्ञ, होम, मन्त्रपाठ, वैवाहिक क्रिया, देवताओं का आवाहन) बिना पत्नी के नहीं सम्पन्न होता, इसलिए वह धर्मपत्नी अथवा 'सहधर्मिणी' भी कही जाती है। मनु के अनुसार-

**प्रजनार्थ महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोस्ति कश्चन ॥<sup>1</sup>**

अर्थात् पुरुष अपने आप में ही पूर्ण नहीं है, स्त्री-स्वदेह और सन्तान, ये तीनों मिलकर ही पुरुष पूर्ण होता है। गृह की शोभा एवं सम्पन्नता स्त्री से मानी गयी है। विवाह शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह' धातु से निष्पन्न है जिसका शाब्दिक अर्थ 'वधू को वर के घर ले जाना' विवाह सम्बन्धी बहुत से शब्द विवाह संस्कार के भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करते हैं। यथा-उद्वाह (कन्या को उसके पितृ गृह से उच्चता के साथ ले जाना) 'विवाह' (विशिष्ट ढङ्ग से कन्या को ले जाना) 'परिणय' (अग्नि की प्रदक्षिणा करना) 'उपयम' (सन्निकट ले जाना या अपना बना लेना) 'पाणिग्रहण' (कन्या का हाथ पकड़ना)। ऋग्वेद<sup>2</sup> के मतानुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ करना या सन्तानोत्पत्ति करना था। शतपथब्राह्मण<sup>3</sup> में पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है। जब तक व्यक्ति विवाह नहीं करता एवं सन्तानोत्पत्ति नहीं करता तब तक वह पूर्ण नहीं है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र<sup>4</sup> के मतानुसार प्रथम पत्नी के गर्भवती होने के कारण दूसरी पत्नी ग्रहण करने तथा धार्मिक कार्य नहीं करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य एवं मनु<sup>5</sup> ने कहा है कि वंश की अविच्छिन्नता एवं स्वर्ग की प्राप्ति ये दोनों कार्य स्त्रियों से सिद्ध होते हैं। मनु ने कहा है-

**उत्कृष्टयाभिरूपाय वराय सदृशाय च । अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥<sup>6</sup>**

अर्थात् कुल एवं आचरण में श्रेष्ठ, सुन्दर और योग्य वर मिल जाय तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिए। कन्या के विषय में आश्वलायनगृह्यसूत्र<sup>7</sup> में कहा गया है कि जो बुद्धिमती हो, सुन्दर हो, सचरित्र हो, शुभ लक्षणों वाली स्वस्थ कन्या को विवाह योग्य माना है। कन्या के चुनाव के विषय में मनुस्मृति एवं विष्णु धर्म सूत्र<sup>8</sup> में कहा गया कि पिङ्गल बालो वाली, अतिरिक्त



अङ्गों वाली (यथा छः अङ्गुलियाँ), टूटे-फूटे अङ्गों वाली, बातूनी, पीली आँखों वाली कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहिए। निर्दोष अङ्गों वाली, हंस या गज की भाँति चलने वाली, जिनके शरीर के (सिर या अन्य अङ्गों के) बाल छोटे हों, जिनके दाँत छोटे हो, जिनका शरीर कोमल हो उनसे विवाह करना चाहिए।

गौतम, वसिष्ठ, मानवगृह्यसूत्र एवं याज्ञवल्क्य एवं अन्य धर्मशास्त्रकारों<sup>9</sup> ने कहा है कि विवाह योग्य अवस्था कन्या वर से अवस्था में यवीयसी (छोटी) होनी चाहिए। कामसूत्र में कहा गया है कि कन्या वर से कम तीन वर्ष छोटी हो।

स्मृतिकाल में बाल विवाह का उल्लेख मिलता है। मनु<sup>10</sup> के मतानुसार तीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष बारह वर्ष की कन्या से एवं चौबीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे। इसी आधार पर विष्णु पुराण<sup>11</sup> ने कन्या एवं वर की विवाह अवस्था का 1/3 रखा है।

#### "वर्षैरकगुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्" -(विष्णुपुराण)

नारियों की विवाह की अवस्था के विषय में यह कहा जा सकता है, सभी कालों और विभिन्न प्रान्तों में विवाह अवस्था पृथक्-पृथक् मानी गयी। पुरुषों के लिए कोई निश्चित अवधि या समय सीमा नहीं थी। पुरुष यदि चाहे तो जीवन भर विवाह कर सकता था। या अविवाहित रह सकता था। किन्तु मध्य काल में लड़कियों के लिए विवाह अनिवार्य हो गया।

मनुस्मृति में कहा गया है-

**काम मामरणत्तिष्ठेत् गृहे कन्यर्तुमत्यपि । न त्वेवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥<sup>12</sup>**

अर्थात् युवती भले ही जीवन भर अपने पिता के घर में अविवाहित रह जाय, किन्तु पिता को चाहिए कि वह सद्गुणविहीन व्यक्ति से विवाह न करे। लड़की युवावस्था के उपरान्त तीन वर्ष बाट जोहकर अपने अनुरूप वर का वरण कर सकती है। इसी का समर्थन अनुशासन पर्व, बौधायन धर्मसूत्र<sup>13</sup> एवं करते हैं।

जबकि बौधायन, वसिष्ठ धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य एवं नारदस्मृति<sup>14</sup> में कहा गया है कि अविवाहित कन्या रहने पर पिता या अभिभावक कन्या के प्रत्येक मासिक धर्म पर गर्भ गिराने के पाप के भागी होता है। इसी कारण कालान्तर में यह नियम बन गया कि कन्या का विवाह शीघ्र हो जाना चाहिए भले ही वर गुणहीन क्यों न हों। इस प्रकार यदि कन्याओं का पठन-पाठन बहुत कम हो, ऐसी स्थिति में अविवाहित कन्याओं का अकारण या निरर्थक रूप से घर में रहने देना समाज को मान्य नहीं था। इस प्रकार एक धारणा बन गयी कि कन्याओं के अङ्गों में किसी प्रकार का परिवर्तन होने से पूर्व ही उसका विवाह कर देना श्रेयस्कर है। इसका विशिष्ट कारण यह था कि अब कन्याओं के लिए विवाह ही उपनयन संस्कार माना जाने लगा था, क्योंकि उपनयन के लिए आठ वर्ष की अवस्था निर्धारित थी। अतः यही अवस्था कन्या के विवाह के लिए उपयुक्त मानी जाने लगी। नारदस्मृति के अनुसार यह भी एक विश्वास हो गया कि अविवाहित रूप से मर जाने पर स्त्री को स्वर्ग प्राप्ति नहीं हो सकती थी।

पराशर एवं याज्ञवल्क्य के मत में कन्या का ब्रह्मचर्य 10वें या 12वें वर्ष तक रहता है। 8 वर्ष की लड़की गौरी, 9 वर्ष की रोहिणी, 10 वर्ष की कन्या तथा इसके ऊपर रजस्वला कही जाती है –

**माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च । त्रस्यते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥**

**यस्तां समुद्वहेत्कन्यां ब्राह्मणोऽज्ञानमोहितः । असंभाष्यो ह्यपाक्तेयः स विप्रो वृषलीपतिः ॥<sup>15</sup>**

ज्ञात होता है कि ब्राह्मण कन्याओं का विवाह 8 और 10 वर्ष के बीच हो जाना चाहिए, इस प्रकार के जो नियम बनें वे छठी एवं सातवीं शताब्दियों से लेकर आधुनिक काल तक विद्यमान रहे हैं। किन्तु आज बहुत से कारणों से जिनमें सामाजिक, आर्थिक आदि कारण मुख्य हैं, विवाह योग्य अवस्था बहुत बढ़ गयी है। यहाँ तक कि आजकल दहेज आदि कुप्रथाओं के कारण ब्राह्मणों की कन्याएँ 16 या कभी-कभी 20 वर्ष के पश्चात् विवाहित हो पाती हैं। आजकल कुछ कन्याएँ अध्ययनाध्यापन में लीन रहने के कारण देर में विवाह करने लगी हैं।

अब तो बाल विवाह अवैधानिक मान लिए गए हैं और कानूनी तौर पर 18 वर्ष के पहले कन्या विवाह अपराध माना जाने लगा ।

धर्मशास्त्रकारों ने एक ही गोत्र, प्रवर और पिण्ड में परस्पर विवाह करना अप्रशस्त माना है। गोत्र, प्रवर और पिण्ड के बाहर तो हिन्दू समाज में अवश्य विवाह किया जाता रहा है, किन्तु अपनी जाति के बाहर जाकर यह विवाह नहीं किया जाता था। अपनी जाति के भीतर ही भिन्न गोत्र, प्रवर में विवाह होता रहा है। प्रत्येक जाति में विभिन्न गोत्र, पिण्ड और प्रवर हैं जिनमें विवाह सम्बन्ध स्थिर होता है। गोत्र का अर्थ साधारणतः पूर्व पुरुष या स्त्री को व्यक्त करता है। मनु<sup>16</sup> के अनुसार जो कन्या माता के या पिता के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक) की न हो और पिता के गोत्र की न हो, ऐसी कन्या द्विजातियों के स्त्रीकर्म के लिए श्रेष्ठ होती हैं।

वृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद्<sup>17</sup> के अनेक स्थलों पर भारद्वाज, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव, कात्यायन, गौतम, काश्यप आदि ऋषियों के नाम पर गोत्रों की चर्चा की गयी है। गोत्र शब्द गोशाला (गायों का समूह) और व्यक्तियों के समूह के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ऐसा ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कहा गया है, मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि<sup>18</sup> ने कहा है कि गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया जिन्हें कुल या वंश की संज्ञा दी गई। पराशर<sup>19</sup> के अनुसार सगोत्र कन्या से भातृत्व व्यवहार करना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह करता था तो उसे अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त व्रत आदि करने पड़ते थे तथा ऐसा व्यक्ति समाज निन्द्य माना जाता था।

परन्तु अद्यतन समाज में भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों में स्त्री-पुरुषों को बराबरी का स्थान दिया गया है। लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न रही। स्त्रियाँ अपने अधिकारों का उपयोग स्वयं नहीं कर पायीं और कभी परिवार, कभी समाज व कभी विशिष्ट परिस्थितियों के नाम पर शोषित होती रहीं। न तो पुरुष उन्हें बराबर मान पाया और न ये स्वयं अपने आपको उनके बराबर मान सकीं, शायद संस्कारवश।

परन्तु परिवर्तन समाज का नियम है, इस स्थिति में भी धीरे-धीरे ही सही परिवर्तन आना था, आया। एक ओर शिक्षित, आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी स्त्रियों में स्त्री जाति के अधिकारों के प्रति चेतना जगी, तो दूसरी ओर शासन ने भी उनकी स्थिति सुधार लाने के लिये विशेष प्रयास किये। भारतीय संविधान में स्त्रियों के लिये अन्यतम प्रावधान बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम के निम्नरूप-

सन् 1929 का बाल विवाह निषेधक अधिनियम सामान्य रूप से 'शारदा एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध है जो कि सितम्बर 1929 में केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तुत होकर 1 अप्रैल 1930 को कानून बना।<sup>20</sup> बाल विवाह की समस्या पर विचार करते हुए इस कानून की निम्न बातें मुख्य थीं-

### विवाह की आयु-

इस कानून के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु 21 साल तथा लड़की की आयु 18 साल की होनी चाहिये। इस आयु से कम में जो विवाह होगा उसे 'बाल विवाह' कहा जायेगा।

### बाल-विवाह के लिये दण्ड की व्यवस्था-

बाल-विवाह के अपराधी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न दण्ड देने की व्यवस्था की गयी।<sup>21</sup>

1. 18 वर्ष से ऊपर और 21 वर्ष से नीचे की आयु वाले को बाल-विवाह के दण्ड- अगर कोई लड़का जिसकी आयु 18 साल से ऊंची और 21 वर्ष से नीची है, अगर वह 14 वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करेगा तो फिर 15 दिन तक साधारण कारावास या 1 हजार रुपये तक का जुर्माना या दोनों दण्ड एक साथ दिये जा सकते हैं।
2. 21 वर्ष से ऊपर वाले बाल विवाह के लिये दण्ड- अगर कोई व्यक्ति जिसकी आयु 21 वर्ष से अधिक होगी, 14 वर्ष से कम उम्र की कन्या से विवाह करेगा तो उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है।
3. बाल-विवाह के कराने में सहायकों की दण्ड- जो व्यक्ति बाल-विवाह कराने, करने या इसमें सहायक होगा उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना दिया जा सकता है।

4. **बाल विवाह कराने वाले माता-पिता को दण्ड-** जो माता-पिता या संरक्षक ऐसे विवाह होने देंगे, उन्हें बाल-विवाह होने पर तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना हो सकता है।

5. **स्त्री को दण्ड नहीं मिलेगा-** इन नियमों के अन्तर्गत किसी स्त्री को कैद का दण्ड नहीं दिया जा सकेगा।

6. **प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट जांच करेगा-** इस अधिनियम के अन्तर्गत जो शिकायत होगी, उसकी जांच या उसके सम्बन्ध का मुकदमा प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में ही चल सकेगा, निचली अदालत में नहीं।

### **बाल-विवाह हो जाने पर त्याज्य नहीं होगा-**

अगर बाल-विवाह हो गया है तो कानून द्वारा उसे त्याज्य या विवाह सम्पन्न ही नहीं हुआ है, वह घोषित नहीं किया जा सकेगा। परन्तु उस विवाह के लिये दण्ड अवश्य मिलेगा।

### **बाल-विवाह ज्ञापनीय अपराध है-**

इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल विवाह ऐसा अपराध है जो ज्ञातव्य अपराध नहीं है, अपितु ज्ञापनीय अपराध है। इसकी सूचना अगर कोई व्यक्ति पुलिस को देगा तभी इस पर कार्यवाही हो सकेगी, पुलिस अपने आप इस पर कार्यवाही नहीं करेगी।

**एक वर्ष के बाद कार्यवाही नहीं हो सकेगी-** इस कानून के अंतर्गत जो भी शिकायत हो, यह एक साल के अंदर ही हो सकती है। एक साल के बाद कोई शिकायत नहीं सुनी जा सकती।<sup>22</sup>

उपरोक्त बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम के अतिरिक्त हिन्दु उत्तराधिकार अधिनियम 1956, दहेज निरोधक अधिनियम, समान वेतन अधिनियम 1976, अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम, महिलाओं के अश्लील चित्रण(प्रतिबन्ध) अधिनियम 1986, कमीशन ऑफ सती प्रथा 1987, तलाक से सम्बन्धित कानून, विधवा विवाह सम्बन्धित कानून, छुआछूत से सम्बन्धित, दूसरी पत्नी से सम्बन्धित बहुत से कानून बने हैं। अतः कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी में स्त्रियों की दशा के सम्बन्ध में अनेक कदम उठाये गये, स्वतन्त्रता के पूर्व ब्रिटिश शासन ने तथा स्वतन्त्रता के बाद भारतीय सरकार ने। जो इस बात का द्योतक है कि भारत, नारी प्रगति का पक्षपाती है। भारतीय नारी ने जब जब चाहा अपने अधिकारों के लिये लड़ी और अपना अधिकार पाया। इसलिये यह जरूरी है कि इस तरह के कानून बने, उनका व्यावहारिक उपयोग हो, क्योंकि यह नारी के अस्तित्व का प्रतीक है।

### **पाद-टिप्पणी**

1. मनुस्मृतिः, 9.26
2. ऋग्वेद 10.84.36, 5.3.2, 5.28.3
3. शतपथब्राह्मण 5.2.1.10
4. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.5.11.12
5. याज्ञवल्क्यस्मृतिः, 1.78, मनुस्मृतिः, 9.28
6. मनुस्मृतिः, 9.88
7. आश्वलायनगृह्यसूत्र 1.5.3
8. मनुस्मृतिः, 3.8-10, विष्णु धर्मसूत्र 24.12-16
9. गौतम गृह्यसूत्र 4.1, वसिष्ठ गृह्यसूत्र 8.1, मानव गृह्यसूत्र 1.7.8, याज्ञवल्क्यस्मृतिः, 1.42
10. मनुस्मृतिः, 9.94
11. विष्णुपुराण 3.10.16
12. मनुस्मृति 9.89-90

13. अनुशासन पर्व 44.16, बौधायन धर्मसूत्र 4.1.14
14. बौधायन धर्मसूत्र 4.1.12, वसिष्ठ धर्मसूत्र 17.70-71, याज्ञवल्क्यस्मृतिः, 1.64, नारदस्मृतिः, 26-27
15. पराशरस्मृतिः, 7.8-9
16. मनुस्मृतिः, 3.5
17. छान्दोग्य उपनिषद् 5.14.1, 5.16.1, बृहदारण्यकोपनिषद् 2.2.4
18. ऋग्वेद 2.23.18.6.65.5, अथर्ववेद 5.21.3, मेधातिथि मनुस्मृतिः, 3.5
19. पराशरस्मृतिः, 2.2
20. भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं, पृ. 563
21. Ibid, पृ. 563
22. Ibid, पृ. 563-564

### सन्दर्भ सूची

- ईशावास्योपनिषत्*। सम्पा. एम्. ए. लक्ष्मीताताचार्य। *ईशावास्योपनिषत्*। मेलुकोट : संस्कृत संशोधन संसद्, 1991।
- उपनिषत्*। *ईशादि नौ उपनिषद्*। गोरखपुर : गीताप्रेस, 2014।
- उपनिषत्*। सम्पा. अतुल चन्द्र सेन। *उपनिषद् अखण्ड संस्करण*। कोलकाता: हरफ प्रकाशनी, 2013।
- उपाध्याय, बलदेव। *पुराण-विमर्शः*। वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2015।
- ऋग्वेदसंहिता*। सम्पा. भट्टाचार्य, श्रीपादशर्मा एवं दामोदरभट्ट सान्तबलेकर। *ऋग्वेद-संहिता*। औन्ध्र : स्वाध्यायमण्डल प्रकाशन, 1940।
- द्विवेदी, पारसनाथ। *वैदिक साहित्य का इतिहास*। वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2011।
- बृहदारण्यकोपनिषत्*। *बृहदारण्यकोपनिषद् सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित*। गोरखपुर: गीताप्रेस, वि.सं. 2074।
- मनु। *मनुसंहिता*। सम्पा. मानवेन्दु वन्दोपाध्याय। *महर्षिमनुप्रणीत मनुसंहिता*। कोलकाता: संस्कृत पुस्तक भाण्डार, 2016।
- मनु। *मनुस्मृतिः*। सम्पा. शिवराज कौण्डिन्यायन। *ब्रह्मकृता मनुप्रोक्ता भृगुप्रचारिता मनुस्मृतिः*। वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2007।
- याज्ञवल्क्य। *याज्ञवल्क्यस्मृतिः*। सम्पा. केशव किशोर कश्यप। *याज्ञवल्क्यस्मृतिः*। वाराणसी: चौखम्बा कृष्णदास अकादेमी, 2009।
- वेदव्यास। *महाभारतम्*। सम्पा. रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय। *श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत महाभारत* (प्रथम खण्ड)। गोरखपुर : गीताप्रेस, (प्रथम संस्करण)।
- सिद्धान्तालङ्कार, सत्यव्रत। *भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं*। देहरादून : विनयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, 1960।

**Dr. Chakradhar Behera**

Professor & Supervisor

Department of Sanskrit

Pondicherry University

Puducherry-605014

Contact No. : 9443643358

E-mail : [cdbhehera24@gmail.com](mailto:cdbhehera24@gmail.com)

**Dr. Joydeep Nama Das**

ICSSR Post-Doctoral Fellow

Department of Sanskrit

Pondicherry University

Puducherry-605014

Contact No. : 9609729048

E-mail : [joydeepnamadas1990@gmail.com](mailto:joydeepnamadas1990@gmail.com)

\*\*\*\*\*

## अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक में निरूपित राजव्यवस्था : वर्तमान परिप्रेक्ष्य

प्रो० ब्रजेश कुमार पाण्डेय, आचार्य

आशुतोष कुमार, सहायकाचार्य

### शोध-पत्र सारांश

(भारतीय चिन्तन परम्परा राज्य की सुदृढ, समृद्ध तथा लोक कल्याणकारी व्यवस्था के प्रति सदैव गम्भीर रही है। वैदिक साहित्य में वर्णित गणतन्त्र दर्शन इसका स्पष्ट प्रमाण है। वैदिक साहित्य के पश्चात् आर्षसाहित्य, पौराणिक साहित्य, लौकिक साहित्य में वर्णित राजव्यवस्था इस चिन्तन-धारा के निरन्तर प्रवाह की द्योतक हैं, यह उल्लेखनीय राजव्यवस्था है, क्योंकि इसमें सार्वभौमिक और सार्वकालिक राजनैतिक विचारों का स्रोत है। इसने न केवल तत्कालीन राष्ट्र को प्रभावित किया है, अपितु यह वर्तमानकालीन राजनैतिक परिस्थितियों में भी उपादेय है। सैन्यव्यवस्था, न्याय-प्रणाली, कोष, मन्त्रिमण्डल, शासन प्रणाली, राजा, गुप्तचर व्यवस्था, दण्ड व्यवस्था, विदेश-नीति इस राजव्यवस्था के घटक तत्त्व हैं, जो किसी भी सुदृढ राष्ट्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ये सभी तत्त्व लोकहित अथवा प्रजाहित की भावना से अनुप्राणित होते हैं। इस दृष्टि से विचार कर कालिदास की नाट्यकृतियों का पर्यायलोचन किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमें निरूपित राजव्यवस्था न्यूनाधिक रूप से लोककल्याण के सनातन मूल्य समाहित किये हुए हैं। प्रस्तुत शोध प्रपत्र के माध्यम से राष्ट्रकवि कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में निरूपित राजव्यवस्था को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है।)

**मुख्य बिन्दु-** राजव्यवस्था, सप्ताङ्ग राज्य, कर, कोष, राजा, आमात्य, राष्ट्र, आदि।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों ने राज्य की कल्पना मनुष्य शरीर की भाँति विभिन्न अङ्गों की समष्टि के रूप में की है। इनके विवेचन के द्वारा राज्य के आवश्यक तत्त्वों को समझा जा सकता है। मनुस्मृति, शुक्रनीति, अर्थशास्त्र, कामन्दकीयनीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि प्राचीन राजशास्त्रीय ग्रन्थों में राज्य के सात अङ्ग बताये गये हैं। स्वामी, आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड (सेना), और सुहृत् (मित्र)- ये सात अङ्ग हैं, इसलिए राज्य को सप्ताङ्ग कहते हैं।<sup>1</sup> शुक्रनीति के अनुसार राजा को सिर, आमात्य (मन्त्री) को नेत्र, कोष को मुख, दुर्ग (राष्ट्र) को पाँव, बल (सेना) को मन और, सुहृत् (मित्र) को कर्ण माना गया है।<sup>2</sup> ये सातों अङ्ग एक दूसरे के पूरक हैं। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा न करे।

महाकवि कालिदास को संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट कवि माना जाता है, तथा इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति अभिज्ञानशाकुन्तलम् है। यह नाटक उनका सर्वस्व माना गया है।<sup>3</sup> अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास की नाट्यकला का प्रौढतम रूप दृष्टिगोचर होता है। भारतीय समालोचकों की दृष्टि में यह नाटक सम्पूर्ण साहित्य की अप्रतिम कृति है- 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'।

अर्थात् काव्यों में नाटक अत्यन्त रमणीय है और नाटकों में भी कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तलम् सर्वाधिक आह्लादक है। पाश्चात्य समीक्षकों ने भी इस नाटक की अत्यधिक कण्ठरव से प्रशंसा की है, स्पष्ट है कि उनकी यह कृति अत्युच्च कोटि की है। कालिदास के नाटकों के नायक तेजस्वी राजा हैं। वे राजा की कर्तव्यपरायणता को बहुत महत्त्व देते हैं। उनके राजप्रभु निरंकुश शासक नहीं, राजधर्मानुशासन के अनुशासित और निष्ठावान् पालनकर्ता हैं। राजपदप्रतिष्ठा सत्ता और विलासिता के लिए अपितु यह बड़ा श्रमसाध्य और दुर्वह दायित्व है। यह बात अभिज्ञानशाकुन्तलम् का नायक दुष्यन्त स्वयं कहता है।<sup>4</sup> जिस प्रकार से विधिपूर्वक अग्नि में आहुति प्रदान करने से अग्नि अभिष्ट फल को प्रदान करता है उसी प्रकार से परोपकारशील, याचकों को अभिष्ट दान, अपराधी को यथोचित दण्ड और प्रजाकार्य में सजगता रखने वाले राजा की कीर्ति की वृद्धि होती है<sup>5</sup>। उनके अनुसार लोक मङ्गल के लिए राजा को स्वसुखनिराभिलाष होकर निरन्तर कर्तव्यपालन में प्रवृत्त होना चाहिए।<sup>6</sup> प्रजावत्सल राजा दुष्यन्त के समक्ष सदैव स्वसुख गौण था और प्रजा सुख प्रथम था। अतः वैतालिक राजा के इसी गुण की स्तुति करता हुआ कहता है कि- आप अपने सुख की इच्छा को छोड़कर नित्य प्रजा की भलाई में लगे रहते हैं और ऐसा करके स्वधर्म की ही रक्षा कर रहे हैं क्योंकि वृक्ष अपने सिर पर कड़ी धूप का सहन करता हुआ

भी अपने नीचे बैठे हुए प्राणियों को छाया ही प्रदान करता है।<sup>7</sup> प्रजा के हितैषी राजा को विश्राम नहीं है इसकी पुष्टि पञ्चम अङ्क में कञ्चुकी के कथन से होती है- अरे! यद्यपि महाराज के लिए धर्मकार्य अनतिक्रमणीय हैं तथापि इस समय ही धर्मासन से उठे हुए इनसे, पुनः विघ्न डालने वाले महर्षि कण्व के शिष्यों के आगमन को निवेदन करने का मुझे उत्साह नहीं हो रहा है अथवा यह प्रजा के शासन का अधिकार विश्राम रहित होता है<sup>8</sup>, क्योंकि- **भानु सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति। शेषः सदैवाहित भूमिधारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥**<sup>9</sup>

सूर्य एक बार ही अपने घोड़े जोतकर निरन्तर चलता रहता है, वायु रात दिन बहती रहती है तथा शेषनाग पृथ्वी के भार को अपने ऊपर सदा धारण किये रहता है। प्रजा से कर के रूप में उपज का छठा भाग लेने वाले राजा की भी यही दशा है। इस प्रकार जनता के द्वारा चयनित प्रतिनिधि को भला विश्राम की आवश्यकता कहाँ। **कालिदास के अनुसार राजा और प्रजा के मध्य शासन-शासित या स्वामी-सेवक का नहीं अपितु पिता-सन्तति के समान सम्बन्ध होना चाहिए।**<sup>10</sup> मनुस्मृति में भी कहा गया है- राजा प्रजा का सेवक होता है, वह उसी प्रकार प्रजा का पालन करे जैसे पिता पुत्र का करता है।<sup>11</sup>

राजा को मर्यादापालक होना चाहिए। कामन्दकीयनीतिसार में राज्य के सप्ताङ्ग सिद्धान्त के अन्तर्गत राजा के संस्कार सम्पन्नता के अनिवार्य गुणों का प्रतिपादन किया गया है जैसे- प्रकार से कुलीनता, शक्ति-सम्पन्नता, सदाचार, दयाशीलता, सत्यपालन, वृद्ध सेवा, कृतज्ञता, उत्साह आदि। अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त के जीवनमूल्य 'मर्यादापालन' था। जिसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा दोनों कण्व-शिष्य, पुरोहित, प्रतिहारी आदि सभी करते हैं।

स्वतन्त्रता तथा समानता किसी भी राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। दुष्यन्त के शासनकाल में सामान्य प्रजाजन को भी विचाराभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी, तभी पञ्चम अङ्क में शकुन्तला राजा के समक्ष सभा में कहती है- **"अनार्य! आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि। क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रपिपत्स्यते"**<sup>12</sup> राजा को नीच तक भी कह देती है- **'सुष्ठु तावदत्र स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि, याऽहमस्य पुरुवंशप्रत्ययेन मुखमधोर्हृदयस्तिथविषस्य हस्ताभ्याशमुपागता।'**<sup>13</sup> यहाँ राजा में क्षमाशीलता का गुण भी परिलक्षित होता है।

'न्याय-व्यवस्था' राज्यव्यवस्था का प्रमुख अङ्ग है। अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त की न्यायप्रियता मानवोचित तथा अनुकरणीय होने के साथ-साथ आज समाज के आदर्श के रूप प्रतिष्ठित है। जब प्रतिहारी पिशुन के साथ मन्त्री यह संदेश भेजता है कि पूरा दिन अनेक विभागों के कर के रूप में प्राप्त धन के हिसाब में ही बीत गया, अतएव प्रजा का केवल एक ही काम मैं देख पाया, उसे पत्र में पढ़कर समझ लें, राजा को पत्र से ज्ञात होता है कि समुद्र-व्यापारी धनमित्र की नौका दुर्घटना में मृत्यु हो गयी और उसका कोई सन्तति नहीं है। अतः आमात्य ने लिखा है- **'राजगामी तस्यार्थसञ्चयः'** तब राजा विषाद के साथ वेत्रवती से कहता है- **वेत्रवती, बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्।**<sup>14</sup> इस पर वह कहती है **'देवा इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जायास्य श्रूयते।'** राजा यह सुनकर आदेश प्रसारित करते हैं- **ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति। गच्छ। एवममात्यं ब्रूहि।**<sup>15</sup> न्याय मांगने वाले को यदि राजा न्याय न देता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु दुष्यन्त की यह विशेषता है कि धनमित्र पत्नी के धन हेतु दावेदारी प्रस्तुत न करने पर भी उन्हें सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्रदान कर समाज के समक्ष अनुपम आदर्श प्रस्तुत करके उनके विश्वास की रक्षा की। **मनुस्मृति के अनुसार समय पर न्याय देना शासक का प्रथम कर्त्तव्य होता है।** यदि न्याय समय पर नहीं मिले तो वह न्याय भी अन्याय में परिवर्तित हो जाएगा। जो राजा सही से न्याय नहीं करता है, वह पाप का भागी होता है ऐसे राजा को उस पाप का चतुर्थांश प्राप्त होता है और चतुर्थांश सभासदों को मिलता है। यदि सभासदों के विरोध के बाद भी राजा अन्याय करता है तो वह अकेला उस पाप का भागी होता है।<sup>16</sup>

अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अच्छे सम्बन्ध होना भी किसी भी राज्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी राज्य की सफलता अपने सीमावर्ती राज्यों से मैत्री सम्बन्ध पर निर्भर करती है। राजा दुष्यन्त के मैत्री सम्बन्ध देवराज इन्द्र से है। इन्द्र कालनेमिवंशज दुर्जय दानव को पराजित करने के लिए मातलि को भेजकर दुष्यन्त को सहायता के लिए बुलाते हैं। विजयी होने के पश्चात् इन्द्र के सम्मान के लिए दुष्यन्त मातलि से कहते हैं- **अनुष्ठितनिर्देशोऽपि महावतः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये।** इस पर मातलि का कथन है

कि आप दोनों का मन एक-दूसरे का आदर करके सन्तुष्ट नहीं हुआ है।

राजा को अपने राज्य के वित्त-कोष पर भी ध्यान देना चाहिए क्योंकि राज्य की सारी व्यवस्था जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, सेना (सुरक्षा), व्यापार आदि उसी पर निर्भर होते हैं। अतः कोष की व्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिए। कोष भरने का प्रमुख साधन कर ही है। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार राजा ऊपज का छठा भाग कर के रूप में ले सकता है। राजा दुष्यन्त प्रजा से आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करता है- षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥<sup>17</sup>

महाभारत के उद्योग पर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खी पुष्प एवं वृक्ष को बिना कष्ट पहुँचाएँ मधु सङ्ग्रहित करती है, उसी प्रकार राजा को भी प्रजा को कष्ट दिये बिना कर एकत्रित करना चाहिए।<sup>18</sup>

अभिनशाकुन्तल नाटक में मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है। राजकार्यों में राजा इनसे सहयोग प्राप्त करता था। पञ्चम अङ्क में जब राजा दुष्यन्त शकुन्तला के सन्दर्भ में स्पष्ट निर्णय लेने में असमर्थ हो जाता है तो पुरोहित सोमरात से इस प्रसंग में जानकारी चाहता है- “अप्रशास्तु मां भवान् यथा गुरुभ्यो रोचते”।

पिशुन नामक मन्त्री पर राजकार्यों के भार को सौंपने व स्वयं राजा के विश्राम का वर्णन भी षष्ठ अंक में प्राप्त होता है। राजा दुष्यन्त जब इन्द्र के आमन्त्रण पर मातलि के साथ स्वर्ग जाते हैं तो राज्य का सम्पूर्ण भार आमात्य पिशुन को सौंपकर जाते हैं तथा मन्त्री भी पूर्ण निष्ठा से प्रजा की रक्षा करता है।<sup>19</sup> राजा का मन्त्री पर विश्वास यह सूचित करता है कि उसके मन्त्री राज्य के विधि-नियमों का पालन निष्ठा से करते थे।

स्पष्ट है कि कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् में हमें राजधर्म, शासन-स्वरूप, दण्ड, जनकल्याणकारी नीतियाँ, मानवाधिकार, सैन्य संचालन, नागरिक अधिकार, कर्तव्यपरायणता, मानव व्यवहार, शान्ति सह अस्तित्व आदि तत्त्वों का स्वरूप प्राप्त होता है। यही तत्त्व राजव्यवस्था के आधार होते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक में निरूपित राजव्यवस्था व्यावहारिक आदर्श से ओतप्रोत है। इसमें समुचित रूप से एक आदर्श राजव्यवस्था का स्पष्ट दर्शन प्राप्त होता है। इसमें राजा के गुण, न्याय व्यवस्था, मन्त्री समूह, पड़ोसी राज्य से मैत्री सम्बन्ध, कर का सदुपयोग आदि दिखाई देते हैं। आज के शासनतन्त्र के लिए प्रेरणा प्रदान करने में अभिज्ञानशाकुन्तलम् प्रासङ्गिकता त्रैकालिक सिद्ध है।

अपने वर्तमान स्वरूप में लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा २०वीं शताब्दी की एक प्रमुख अवधारणा है। कल्याणकारी सिद्धान्त राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हुए इस बात का प्रतिपादन करता है कि राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किये जाने चाहिए, जो जन के कल्याण में हों। साधारणतया लोककल्याणकारी राज्य का तात्पर्य एक ऐसे राज्य से है, जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का

प्रयोग किसी विशेष वर्ग के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनमानस के कल्याण के लिए किया जाता है। भारतीय राजनैतिक विचारकों ने राजपद के दैवीय उदय का प्रतिपादन किया है, लेकिन इसके साथ ही नृपतियों के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की है तथा उनकी मूल अवधारणा है कि राजा का सभी कार्य लोक कल्याण की दृष्टि से किया जाना चाहिए। वर्तमान राजनीतिक चिन्तन में आ रहे बदलाव के कारण लोकतन्त्र के वास्तविक स्वरूप में परिवर्तन देखा जा रहा है, राजनीतिज्ञों, चिन्तकों, विधिवेत्ताओं का चिन्तन संकीर्णताओं से व्याप्त हो गया है। ऐसी स्थिति में दुनिया का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश भारत जो अनन्तकाल से अन्य देशों के लिए प्रेरणास्त्रोत रहा है, उसमें अनेक विषमताओं, संकीर्णताओं तथा कुत्सित मनोवृत्तियों के कारण सर्वत्र हास होता दृष्टिगोचर हो रहा है। इन परिस्थितियों से बाहर निकालने में कालिदास का नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् अपनी आदर्शपूर्ण निधि से भारत के आत्मगौरव व आत्मसम्मान को पुनर्स्थापित करने का सामर्थ्य रखता है। बदलते वैश्विक परिवेश में कदम से कदम मिलाकर आगे बढ़ने के साथ ही अपने प्राचीन सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को बचाने में भी पूर्णतया समर्थ है। राजा के कर्तव्य क्या हों, राजा तथा प्रजा के मध्य किस प्रकार के सम्बन्ध हो, शासन का स्वरूप किस प्रकार का हो, विधानमण्डल के दायित्व जनता की आशाओं के अनुरूप किस प्रकार निर्धारित हो, इन सब बातों का चिन्तन तथा समाधान खोजने के लिए हमें अपनी पारम्परिक सुदीर्घकालीन दूरदृष्ट आचार्यों की प्राचीन शासन-प्रणाली का अनुकरण करना होगा तथा उनके द्वारा वर्णित राजव्यवस्था के आदर्श मूल्यांकों को ग्रहण करना होगा।

## पादटिप्पणी

1. (क) स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तया। सप्त प्रकृत्यो ह्येताः सप्ताङ्ग राज्यमुच्यते ॥ मनुस्मृति, 9.294  
(ख) स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः। अर्थशास्त्र, 6.1
2. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्धा नृपः स्मृतः ॥  
दृगमात्यः सुहृच्छेत्रं मुखं कोशो बलं मनः। हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रे राज्याङ्गानि स्मृतानि च।। शुक्रनीति, 1.61-62
3. कालिदासस्य सर्वस्वं अभिज्ञानशाकुन्तलम्।
4. नातिश्रमापयनाय च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवात्तपत्रम्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.6
5. यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्। यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ रघुवंशम्, 1.6
6. भानुः सकृद्युक्त तुरंग एवं रात्रिदिवं गन्धवहः प्रयाति। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 5.4
7. स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।  
अनुभवति हि मूर्धा पादपस्तीब्रमुष्णं शमयति परितापं छायाया संश्रितानाम् ॥ वही, 5.7
8. भोः कामं धर्मकार्यमतिपात्यं देवस्य। तथापिदानामेव धर्मासनादुत्थिताय पुनरूपरोधाकारि कण्वशिष्यागमनस्मै नोत्सके निवेदितुम्।  
अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः वही, 5.3 । 9. वही, 5.4 । 10. प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्। वही, 5.5
11. सांवत्सरिकमासैश्च राष्ट्रदाहारयेद्वलिम्। स्याच्चास्त्रायपरो लोको वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ मनुस्मृति, 7.80
12. अभि० शा०, 5.22                      13. वही, 5.23                      14. वही, 7.22                      15. वही
16. पादोऽधर्मस्य कर्जारं पादः साक्षिणमृच्छति। पादः सभासदः सर्वान्पादो राजान्मृच्छति।।  
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यते सभासदः। एनो गच्छति कर्तारं निन्दाऽर्हो यत्र निन्द्यते ॥ मनुस्मृति, 8.18-19 । 17. अभि. 5.4
18. यदा मधु समदत्ते रक्षन पुष्पाणि षट् पदः तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्याद्विहिंसया ॥  
पुष्प पुष्प विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्। मालाकार इवागमे न यथाङ्गापकारकः ॥ महाभारत, उद्योग पर्व, 3414-18
19. त्वन्मतिः केवला तात्परिपालयतु प्रजाः। अधिज्यमिदमन्यस्मिन्कर्माणि व्यापृतं धनुः ॥ अभि, 6.32

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. कालिदास, *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*. व्या. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी, वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2011
2. अलतेकर, अनन्त सदाशिव. *प्राचीन भारतीय शासन पद्धति*. इलाहाबाद: भारती भण्डार, 2009
3. आसोपा, लक्ष्मीनारायण. *संस्कृत वाङ्मय में लोकतन्त्र*, जयपुर: हंसा प्रकाशन, 2010
4. उपाध्याय, भगवत शरण. *कालिदास का भारत*. वाराणसी: भारतीय ज्ञान पीठ, 1967
5. तिवारी, डॉ० शशि, *संस्कृत साहित्य में राष्ट्रवाद और भारतीय राजशास्त्र*. दिल्ली: विद्यानिधि प्रकाशन, 2013
6. द्विवेदी, कैलाशनाथ. *कालिदास की कृतियों में भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान*. कानपुर: साहित्य निकेतन, 1969
7. बंसल, मुकेश कुमार. *प्राचीन भारतीय राज्यानुशासन*. दिल्ली: ज्योति इन्टरप्राईजेज, 2009
8. माथुर, कल्लेश. *कालिदास, साहित्य में जीवन मूल्य*. दिल्ली: ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 2015

## प्रो० ब्रजेश कुमार पाण्डेय

आचार्य, संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- 110067

## आशुतोष कुमार, सहायक-आचार्य, संस्कृत विभाग

लक्ष्मीबाई महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय)

अशोकविहार, फेस- ३, दिल्ली-110052

Contact No. : 9013271218 / 8010269464

E-mail : ashutoshdu647@gmail.com

\*\*\*\*\*



## डॉ. देवेश ठाकुर की साहित्य संबंधी अवधारणा

डॉ. मनोज कुमार दुबे, मुम्बई, महाराष्ट्र

### शोधालेख सार:

प्रत्येक रचना अपने रचनाकार की विचारधारा का प्रतिबिंब होती है। रचना के माध्यम से हम रचनाकार की चिंतनधारा और उसकी रचना-दृष्टि को जान-समझ सकते हैं। प्रायः सभी रचनाकार अपनी समकालीन परिस्थितियों से असंतुष्ट एवं उसकी विसंगतियों-विद्रूपताओं और विषमताओं को लेकर चिंतित और सजग होते हैं। देवेश ठाकुर जी ने भी अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों, व्यवस्था एवं शिक्षा-व्यवस्था आदि के साथ-ही-साथ साहित्यिक गतिविधियों, साहित्य के स्वरूप, साहित्यकारों की चिंतनधारा, साहित्य के स्तर, उसमें होने वाले परिवर्तन आदि को लेकर अपने स्पष्ट विचार अनेक रचनाओं में व्यक्त किया है। प्रस्तुत शोध पत्र में देवेश जी के साहित्य संबंधी अवधारणाका अध्ययन किया गया है।

### मूल शब्द:

अवधारणाएँ, हेतु, प्रेरणा, प्रयोजन, रचना प्रक्रिया, मान, राजनीति, स्वतन्त्रता, यथार्थ लेखन।

### भूमिका:

मानव-समाज के व्यवस्थित नियमन और संचालन के लिए तथा उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए साहित्य आवश्यक तत्त्व है। साथ ही यह समाज को आईना दिखाने का भी काम करता है। हालाँकि यह समाज से ही उपजता है और इसका रचयिता भी समाज का ही एक अंग होता है। रचनाकार समाज में सबके बीच ही रहता, खाता, जीता है लेकिन अपनी साहित्यिक दृष्टि और रचनाशीलता के गुण के कारण वह अन्य लोगों से भिन्न भी होता है। समाज की जिन घटनाओं की सामान्य व्यक्ति पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, उन्हीं को देखकर वह विचलित हो उठता है और रचनाकर्म के लिए उद्यत हो उठता है। वह समाज की एक ऐसी तस्वीर अपनी रचनाओं में उभारता है जो समाज का मार्गदर्शन करने के साथ-ही-साथ समाज में रहनेवाले लोगों को अपने समाज के वर्तमान स्वरूप से परिचित भी कराती है। प्राचीन काल से अब तक लगभग सभी साहित्यकारों और आलोचकों ने अपनी साहित्य-संबंधी अवधारणा को व्यक्त किया है या परिभाषित करने का प्रयास किया है। बालकृष्ण भट्ट जहाँ साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास मानते हैं, वहीं बाबू गुलाब राय की दृष्टि में साहित्य ऐसी शाब्दिक रचना मात्र का वाचक है, जिसमें कुछ हित का प्रयोजन हो। यह अपने रूढ़ अर्थ में काव्य या भावना प्रधान साहित्य का पर्याय है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी के अनुसार - 'साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दशा में ले जाने की सामर्थ्य रखती हैं। इसी प्रकार अन्य कई आलोचकों, विद्वानों, साहित्यकारों और साहित्येतिहास लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तू के अनुसार, 'शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत अनुकृति को काव्य कहते हैं। १ हडसन, साहित्य को भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं - 'साहित्य उन सबका सजीव लेखा है, जो कुछ मानव ने जीवन में देखा है, जो कुछ उसके बारे में अनुभव किया है और जो कुछ उन पहलुओं के बारे में सोचा है, जिनका हम सभी से तात्कालिक स्थायी संबंध है। इस प्रकार वह भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है। २ शैली लिखते हैं, 'काव्य सर्वाधिक सुखी एवं श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा जोखा है। ३ देवेश ठाकुर जी ने अपने दीर्घकालिक रचना-कर्म के दौरान शोध-समीक्षा एवं स्वतंत्र वैचारिक लेखों में साहित्य से जुड़े विविध पक्षों पर अपनी स्पष्ट वस्तुपरक एवं दो टूक राय प्रकट की है। इस ओर संकेत करते हुए डॉ. सतीश पांडे ने लिखा है - देवेश ठाकुर की साहित्य संबंधी दृष्टि अत्यंत ही स्पष्ट एवं वस्तुपरक है। वह उसी लेखन को मान्यता देते हैं, जो जीवन में मनुष्यत्व के उपकरणों का विस्तार करता हो, जिसमें व्यक्ति, राष्ट्र और समूचे मानव समाज को चिंतन की उच्चतर भूमिकाओं में उठाने और स्वस्थ दिशा देने की प्रेरणा निहित हो। इन उपकरणों का मानव जीवन में विस्तार तभी संभव है, जब रचनाकार अपने परिवेश की सच्चाइयों को वस्तुपरकता और मानव-हित-कामना के उद्देश्यों से उकेरने का प्रयास करे। ४ यहाँ देवेश ठाकुर जी की साहित्य संबंधी एक निश्चित अवधारणा प्रकट

हुई है। साहित्य को प्राचीन समय से ही अलग-अलग ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। तब इसे अलौकिकता के निकट और ब्रह्मानंद सहोदर माना जाता था किंतु अब इसकी भूमिका अलग संदर्भों में व्याख्यायित की जाने लगी है। देवेश जी ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि- 'साहित्य आवश्यक रूप से आत्मानुभूति और आत्मचिंतन की वस्तु है लेकिन यह अनुभूति और चिंतन सर्वदा परिस्थिति सापेक्ष होता है। और परिस्थितियाँ मूलतः बाह्य अधिक होती हैं, आंतरिक कम। ५ साहित्य-सृजन में बाह्य परिस्थितियों को अधिमान देने के मूल में देवेश जी की साहित्य-संबंधी वह दृष्टि ही है जिसके तहत वे मानते हैं कि साहित्य और कला का उद्देश्य समाज और मानव जीवन का उत्कर्ष करना है। इसीलिए वे साहित्य के रचनाकर्म को सरल-सहज नहीं मानते हैं वरन् उसे एक कठिन तपस्या मानते हैं - 'साहित्य रचना एक प्रकार की कठिन साधना है जो रचनाकार को आत्मिक सुख तो देती ही है, साथ ही पाठक वर्ग के हित को भी साधती है। व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति की सहज इच्छा, अपने आस-पास चल रहे कार्य-व्यापारों के प्रति रुचि, यथार्थ जीवन और जगत के प्रति आकर्षण, अंतर्मन में चलने वाले काल्पनिक व्यापारों को शब्द देने की प्रवृत्ति, कलात्मक का मोह, जीवन के विविध नियमों में समग्रता की खोज की आकांक्षा तथा यथार्थ को परिष्कृत करने की कामना और समाज में रहते हुए उसके हित और उन्नयन के लिए नित नवीन दिशाओं की खोज- ये कुछ विशिष्ट बिंदु हैं, जिनकी प्रेरणा से साहित्य सृजन की दिशा में प्रशस्त हुआ जा सकता है। ६ देवेश ठाकुर के अनुसार साहित्य व्यक्ति के ज्ञान का विकास और जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। 'साहित्य जीवन की विविधता की ऐसी समग्र अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों का समावेश तो होता ही है साथ ही जो व्यक्ति के बोध को उन्नत करने में प्रेरक भी बनती है और जिससे व्यक्ति-जीवन को सार्थक दिशा उपलब्ध होती है और जीवन मूल्यों का महत्व ज्ञात होता है। ७ साहित्य के हेतु के रूप में विद्वानों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का उल्लेख बार-बार किया है। इसमें भी प्रतिभा को विशेष महत्व दिया गया है। व्युत्पत्ति से तात्पर्य है निपुणता, जो अभ्यास से आती है। तमाम भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के विचारों का विवेचन-विश्लेषण करते हुए देवेश ठाकुर ने कुछ निजी और महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं। संस्कृत विद्वानों की भाँति इन्होंने प्रतिभा या शक्ति को महत्व न देकर अभ्यास को प्रमुख माना है। उनकी धारणा यह है कि प्रतिभा भी अध्ययन अनुभव और अभ्यास से ही निरवारी जा सकती है। प्रतिभा के संदर्भ में उन्होंने जनगाथा में भी कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त किए हैं। वर्तमान नई पीढ़ी के रचनाकारों की प्रतिभा एवं उनके लेखन के स्तर को लेकर वे संतुष्ट नहीं हैं उनका मानना है कि 'कुछ लिखने के लिए प्रतिभा चाहिए। आज के लेखकों में प्रतिभा कहाँ है, वह तो प्रतिभा की तलछट है। जिनमें प्रतिभा है, वे डॉ. और इंजीनियर बन रहे हैं, प्रशासक बन रहे हैं। लेखक बनना बैँठे-ठाले का काम बन गया है। एक सदी बीतने को जा रही है और अभी तक इस देश की किसी भाषा में ना कोई वाल्मीकि पैदा हुआ ना व्यास और ना ही कालिदास। सभी भाषाओं का यही हाल है। कहीं प्रतिभा नहीं है, बस प्रतिभा के कुछ स्फुलिंग हैं और इन्होंने ही साहित्य की गहियाँ संभाल ली हैं। ८ इनका मानना है कि प्रत्येक रचनाकार में प्रतिभा तो नैसर्गिक रूप से होती ही है लेकिन इस प्रतिभा के होने के बावजूद व्यक्ति साहित्य रचना नहीं कर पाता। साहित्य रचना के कारणों में अध्ययन, अनुभव और अभ्यास मुख्य हैं और प्रतिभा गौण। ९ अपनी इस धारणा की पुष्टि करते हुए देवेश ठाकुर ने प्रेमचंद, श्रीलाल शुक्ल, नरेंद्र कोहली और प्रसाद का उदाहरण दिया है। उनके अनुसार अगर केवल प्रतिभा से रचना हो सकती तो प्रसाद प्रेमचंद की आरंभिक रचनाएँ इतनी सामान्य और गौण नहीं होतीं। प्रतिभा तो उनमें तब भी थी। अपने अंतिम दिनों में इन्होंने कामायनी और गोदान जैसी जो रचनाएँ दीं उसके पीछे वस्तुतः उनका अध्ययन अनुभव और अभ्यास ही प्रमुख था प्रतिभा नहीं। १० काव्य की प्रेरणा संबंधी तमाम भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए देवेश जी ने लिखा है - 'साहित्य-निर्माण की प्रेरणा के मूल में आत्माभिव्यक्ति, रचनाकार का परिवेश और उस परिवेश की उस पर हुई प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति ही प्रमुख है। ११ इसी तरह इन्होंने आत्माभिव्यक्ति को किसी भी प्रकार की आध्यात्मिकता या दिव्यता से जोड़ने को निरर्थक माना है। इनका यह भी मानना है कि मात्र संतोष या सुख या आनंद की प्राप्ति साहित्य रचना का परिणाम है; उसकी प्रेरणा नहीं। इसी संदर्भ में इन्होंने यह भी लिखा है कि साहित्य की प्रेरणा सापेक्षिक होती है और यह सापेक्षिकता व्यक्ति रचनाकार की मानसिकता एवं भौतिक स्थिति पर निर्भर करती है। अंततः वे परिवेशगत सच्चाइयों की वस्तुपरक अभिव्यक्ति की आकांक्षा और मनुष्य मात्र की हित कामना ही वास्तविक साहित्य की वास्तविक प्रेरणाएँ मानते हैं।

साहित्य के प्रयोजन पर विचार करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कभी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की चर्चा की है तो कभी यश-प्राप्ति, धन, व्यवहारिक ज्ञान, अनिष्ट निवारण, शांति, आनंद, कांता सम्मत उपदेश। आधुनिक समय के प्रगतिशील विचारकों के अनुसार मनुष्य के जीवनानुभवों को व्यापक और आकर्षक रूप में प्रस्तुत कर पाठक को विश्व समाज और जीवन की गहरी समझ देना साहित्य का प्रयोजन है। देवेश ठाकुर ने भी साहित्य के संदर्भ में अपनी समाज-सापेक्ष दृष्टि के कारण साहित्य के माध्यम से मनुष्यता के उपकरणों को मानव जीवन में विस्तारित करने को ही साहित्य का वास्तविक प्रयोजन माना है। इनका उद्देश्य रहा है कि साहित्य के माध्यम से मानव और समाज को ऊँचा उठाने में सहयोग दिया जाए। यह तभी संभव है जब समाज में व्याप्त विसंगतियों और विद्रूपताओं को दूर किया जाए। इसीलिए जनगाथा में एक स्थान पर वे लिखते हैं कि देश के लेखक को भंगी होना चाहिए ताकि वह समाज की गंदगी को झाड़ू मार सके और लोगों को साफ जिंदगी की दिशा में प्रशस्त कर सके। १२

#### सारांश:

देवेश ठाकुर जी ने साहित्य के संबंध में अपनी समझ को लेकर बहुत कुछ लिखा है। विस्तार से उन्होंने साहित्य को लेकर उसके विभिन्न आयामों के परिप्रेक्ष्य में अपनी बात रखी है। अपना मंतव्य देते समय उन्होंने संभवतः कहीं कोई नरमी नहीं बरती है, चाहे वह साहित्य के स्वरूप और उसकी दशा-दिशा के प्रति हो या साहित्यकार के प्रति या साहित्येतिहासकार के प्रति। स्पष्ट है कि उन्होंने साहित्य से जुड़ी मान्यताओं और धारणाओं पर गहन अध्ययन-मनन किया है और उसके पश्चात अपना मंतव्य रखा है।

#### डॉ. मनोज कुमार दुबे

मुंबादेवी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,

भारतीय विद्याभवन, के. एम्. मुंशी मार्ग

मुंबई – 400007, महाराष्ट्र

Contact No. : 9920287301

E-mail : masmdbymannu22@mail.com

#### संदर्भ सूची:

- १ - गणपतिचंद्र गुप्त, साहित्यिक निबंध, पृष्ठ - ५
- २ - डॉ. विश्वंभर दयाल गुप्ता, साहित्य का समाजशास्त्र, पृष्ठ - ४१
- ३ - गणपतिचंद्र गुप्त, साहित्यिक निबंध, पृष्ठ - ५
- ४ - सतीश पांडेय, कथाशिल्पी देवेश ठाकुर, पृष्ठ - ३०
- ५ - देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, पृष्ठ - ९ - १०
- ६ - देवेश ठाकुर, साहित्य की सामाजिक भूमिका, पृष्ठ - १९
- ७ - देवेश ठाकुर, साहित्य की सामाजिक भूमिका, पृष्ठ - १९
- ८ - देवेश ठाकुर, जनगाथा, पृष्ठ - २१७
- ९ - देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, पृष्ठ - १६
- १० - देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, पृष्ठ - १६
- ११ - देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य, पृष्ठ - २१
- १२ - देवेश ठाकुर, जनगाथा, पृष्ठ - १९३

\*\*\*\*\*

## ಸುಂದರ ಬದುಕಿಗೆ ಯೋಗದ ಅವಶ್ಯಕತೆ

ಯೋಗವು ಪ್ರಪಂಚಕ್ಕೆ ಕೊಟ್ಟ ಭಾರತೀಯರ ಕೊಡುಗೆ ಎಂದು ಹೇಳಲು ಹೆಮ್ಮೆಯಾಗುತ್ತದೆ. ಜೂನ್ 21 ರಂದು ಇಡೀ ವಿಶ್ವವೇ ಯೋಗ ದಿವಸವೆಂದು ಆಚರಿಸುತ್ತಿರುವುದು ನಿಜಕ್ಕೂ ಸಂತೋಷದ ವಿಷಯ.

“ಯೋಗ” ಶಬ್ದವನ್ನು ಸಂಸ್ಕೃತ ಭಾಷೆಯ **ಯುಜಿಯೋ** ಮತ್ತು **ಯುಜ ಸಮಾಧೌ** ಎಂಬ ಎರಡು ಧಾತುಗಳಿಂದಲೂ ವ್ಯುತ್ಪನ್ನ ಮಾಡಲು ಸಾಧ್ಯ. ಯೋಗವೆಂದರೆ ಜೋಡಿಸು, ಕೂಡಿಸು, ಎಂಬ ಅರ್ಥವಿದೆ. ಯೋಗದಲ್ಲಿ ದೇಹದ ಜೊತೆ ಮನಸ್ಸು, ಬುದ್ಧಿ, ಭಾವನೆ, ಆತ್ಮ ಹಾಗೂ ಅಹಂಕಾರಗಳನ್ನು ಕೂಡಿಸುವುದನ್ನು ಅಭ್ಯಾಸ ಮಾಡಲಾಗುತ್ತದೆ. ಆಧ್ಯಾತ್ಮದ ದೃಷ್ಟಿಯಲ್ಲಿ ಆತ್ಮನೊಂದಿಗೆ ಪರಮಾತ್ಮನನ್ನು ಸೇರಿಸುವುದು ಅಥವಾ ಲೀನವಾಗಿಸುವುದು ಎಂದಾಗುತ್ತದೆ.

ಪತಂಜಲಿ ಮಹರ್ಷಿಗಳು ಯೋಗವೆಂದರೆ **“ಯೋಗಶ್ಚಿತ್ತವೃತ್ತಿನಿರೋಧಃ”** ಎಂದಿದ್ದಾರೆ. ಯೋಗದಕುರಿತು ಒಂದು ಶ್ಲೋಕವಿದೆ.

**ಯೋಗೇನ ಚಿತ್ತಸ್ಯ ಪದೇನ ವಾಚಾಂ ಮಲಂ ಶರೀರಸ್ಯ ಚ ವೈದ್ಯಕೇನ | ಯೋಽಪಿ ಕರೋತ್ ತಂ ಪ್ರವರಂ ಮುನೀನಾಂ ಪತಂಜಲಿಂ ಪ್ರಾಚ್ಛಲಿರಾನತೋಽಸ್ಮಿ ||**

ಯೋಗದೇಹದ ಆರೋಗ್ಯಕ್ಕೆ ಮಾತ್ರವಲ್ಲ ಮಾನಸಿಕ ಆರೋಗ್ಯಕ್ಕೂ ಉತ್ತಮವಾದುದು. ಸುಂದರ ಬದುಕನ್ನು ರೂಪಿಸುವಲ್ಲಿ ಯೋಗದ ಅವಶ್ಯಕತೆ ಇದ್ದೇ ಇದೆ. ಹೇಗೆಂದರೆ—

ದೇಹವನ್ನು ಆರೋಗ್ಯವಾಗಿಟ್ಟು ಕೊಳ್ಳಲು ಯೋಗದಿಂದ ಸಾಧ್ಯ. ಯೋಗ ಮಾಡುವುದರಿಂದ ನಮ್ಮ ಮನಸ್ಸು ಮತ್ತು ದೇಹ ಎರಡನ್ನು ಆರೋಗ್ಯವಾಗಿಟ್ಟು ಕೊಳ್ಳಬಹುದು. ರಕ್ತದ ಒತ್ತಡ, ತೂಕಕಡಿಮೆ ಮಾಡಿ ಕೊಳ್ಳಲು, ಒತ್ತಡವನ್ನು ಕಡಿಮೆ ಮಾಡುವುದು, ಕೊಲೆಸ್ಟ್ರಾಲ್‌ನ್ನು ಹತೋಟಿಯಲ್ಲಿಡಲು ಯೋಗ ಸಕಾರಾತ್ಮಕವಾದ ಪರಿಣಾಮವನ್ನು ನೀಡುವುದರಿಂದ ಜಗತ್ತಿನಾದ್ಯಂತ ಎಲ್ಲರೂ ಇಷ್ಟ ಪಡುವ ಪ್ರಯೋಗ ಇದಾಗಿದೆ. ಯೋಗವು ದೇಹವನ್ನು ಸಮತೂಕದಲ್ಲಿಟ್ಟು ದೃಢ ಮತ್ತು ಸುಂದರವಾಗಿರುವಂತೆ ನೋಡಿಕೊಳ್ಳುತ್ತದೆ. ಯೋಗ ಮನಸ್ಸಿನ ಶಾಂತಿಯನ್ನು ಕಾಪಾಡಲು ಅತ್ಯುತ್ತಮವಾದ ಮಾರ್ಗವಾಗಿದೆ. ಯೋಗ ಮಾಡುವುದರಿಂದ ದೃಢವಾಗಿರಲು ಹಲವಾರು ರೋಗಗಳಿಂದ ದೂರವಾಗಿ ಸಂತೋಷ ಉಲ್ಲಾಸದಿಂದ ಇರಲು ಸಹಾಯವಾಗುತ್ತದೆ.

ಉಸಿರಾಟದ ಮತ್ತು ಇತರ ಆಸನಗಳಿಂದ ದೇಹದ ರಕ್ತಸಂಚಲನವನ್ನು ಸರಾಗವಾಗಿಸುವಲ್ಲಿ ಯೋಗ ಸಹಕರಿಸುತ್ತದೆ. ಈ ಸರಾಗ ರಕ್ತಸಂಚಲನದಿಂದ ಆಮ್ಲಜನಕ ಮತ್ತು ಜೀವಸತ್ವಗಳು ದೇಹದ ಎಲ್ಲಾ ಭಾಗಗಳಿಗೂ ಸರಿಯಾಗಿ ಸಂಚಲನವಾಗುವುದರಿಂದ ಆರೋಗ್ಯಯುತ ಅಂಗಗಳು ಮತ್ತು ಕಾಂತಿಯುತವಾದ ಚರ್ಮವನ್ನು ಪಡೆಯಬಹುದು.

ಜೀವನದಲ್ಲಿ ಶಿಸ್ತು ರೂಢಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಮತ್ತು ಒತ್ತಡ ನಿವಾರಣೆಗೆ ಯೋಗ ತುಂಬಾ ಸಹಕಾರಿಯಾಗಿದೆ. ಯೋಗದಿಂದ ಸದಾ ಸರ್ವದಾ ಆರೋಗ್ಯ ಎಂಬ ಅದ್ಭುತ ಕೊಡುಗೆ ನೀಡಿದೆ ನಮ್ಮ ಸಂಸ್ಕೃತಿ. ಸ್ಪರ್ಧಾತ್ಮಕ ಯುಗದ ಒತ್ತಡಗಳಲ್ಲಿ ಶಿಸ್ತುಬದ್ಧ ಜೀವನ ನಡೆಸುವುದು ಅತ್ಯಂತ ಕಷ್ಟಕರವಾಗಿದೆ. ವಿದ್ಯಾರ್ಥಿಗಳು, ಉದ್ಯೋಗಸ್ಥರು ಹಾಗೂ ನೌಕರರು ನಿಯಮಿತವಾಗಿ ಯೋಗಾಭ್ಯಾಸ ಮಾಡುವುದರಿಂದ ಒತ್ತಡ ರಹಿತಜೀವನ ಸಾಗಿಸಬಹುದು. ಇಡೀ ಪ್ರಪಂಚವೇ ಯೋಗಾಭ್ಯಾಸದ ಮಹತ್ವ ಅರಿತಿದ್ದು ಭಾರತೀಯರಾದ ಪ್ರತಿಯೊಬ್ಬರೂ ನಿತ್ಯದ ಜೀವನದಲ್ಲಿ ಯೋಗಾಭ್ಯಾಸ ಅಳವಡಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಮುಂದಾಗಬೇಕು.

**ಆದಿತ್ಯಸ್ಯ ನಮಸ್ಕಾರಾನ್ ಯೇ ಕುರ್ವಂತಿ ದಿನೇ ದಿನೇ | ದೀರ್ಘಮಾಯುರ್ಬಲಂ ಚೈವ ತೇಜಸ್ತೇಷಾಂ ಚ ಜಾಯತೇ ||**

ಯಾವ ಮನುಷ್ಯನು ಪ್ರತಿ ದಿನ ಸೂರ್ಯನಮಸ್ಕಾರವನ್ನು ಮಾಡುತ್ತಾನೆಯೋ ಅವನಿಗೆ ಆಯುಷ್ಯ, ಬಲ ಮತ್ತು ತೇಜಸ್ಸು ಉಂಟಾಗುತ್ತದೆ.

ಈ ರೀತಿಯಾಗಿ ಯೋಗಾಭ್ಯಾಸವನ್ನು ಸತತವಾಗಿ ಮಾಡುವುದರಿಂದ ನಮ್ಮ ಬದುಕನ್ನು ಸುಂದರವಾಗಿ ರೂಪಿಸಿಕೊಳ್ಳಬಹುದು.

ನಾವೆಲ್ಲರೂ ಆರೋಗ್ಯಭಾಗ್ಯಕ್ಕಾಗಿ ಈ ರೀತಿ ಪ್ರಾರ್ಥಿಸೋಣ—

**ಶ್ರದ್ಧಾಂ ಮೇಘಾಂ ಯಶಃ ಪ್ರಜ್ಞಾಂ ವಿद्याಂ ಬುದ್ಧಿಂ ಶ್ರಿಯಂ ಬಲಮ್ | ಆಯುಷ್ಯಂ ತೇಜ ಆರೋಗ್ಯಂ ದೇಹಿ ಮೇ ಕರುಣಾಕರ ||**

\*\*\*\*\*